अग्रवाल जाति का विकास

लेखक —

अग्रवाल जाति
का
इतिहास

[पुरातात्विक प्रमाणों के आधार पर लिखा गया मौलिक इतिहास]

लेखक—
श्री परमेश्वरीलाल गुप्त

प्रकाशक—
श्री काशी पेपर स्टोर्स
२१, बुलानाला
काशी

प्रकाशक—
श्री कमलनाथ अग्रवाल
काशी पेपर स्टोर्स
२१, बुलानाला
काशी

१९४२
प्रथमवार
१०००
मूल्य एक रुपया

मुद्रक—
श्रीनाथदास अग्रवाल,
टाइम-टेबुल प्रेस,
बनारस ४०५-४२

हिन्दी की सुप्रसिद्ध कवित्री

स्व० श्रीमती रामेश्वरी गोयल एम० ए०

स्नेहशीला बहन

रामेश्वरी गोयल एम० ए०

की

स्वर्गस्थ आत्मा को

"A book is written not to multiply the voice merely, not to carry it merely, but to perpetuate it. The author has some thing to say, which he percieves to be true, and helpful or useful, beautiful. So far as he knows, no one else has said it; so far he knows, no one can say it. He is bound to say clearly and meeodiously if he may, clearly all events."

—Ruskin.

अग्रवाल जाति का विकास

लेखक—

श्री परमेश्वरी लाल गुप्त

विषय सूची

१—पुस्तक के प्रति ... ...)। – ~)

२—परिचय (श्री बसन्तलाल मुरारका) ... ~)।–~)।।।

३—प्रस्तावना (सर सीताराम) ... ... =)–=)।

पूर्वार्द्ध

१—किंवदन्तियाँ एवं जनश्रुति ... ... ३ – १२

२—दो प्राचीन ग्रन्थ ... ... १३ – २१

३—अग्रसेन के पूर्वज ... ... २२ – ५१

४—अग्रसेन ... ... ५२ – ६९

उत्तरार्द्ध

१—जाति ... ... ७३ – ९७

२—'अग्रवाल' ... ... ९८ –१३०

परिशिष्ट

१—नागवंश १३१–१४७

२—गोत्र १४८–१७९

३—विस्तार भेद और शाखा १८०–१९६

४—वार्तिक १९७–२०२

चित्र फलक

१—प्रभास अभिलेख ९९

२—सारबन अभिलेख १०३

३—आग्रेय गण की मुद्रायें ११३

पुस्तक के प्रति—

पुस्तक का विषय नाम से स्पष्ट है। इस विषय पर निकलने को तो बीसियों पुस्तकें निकली हैं, पर उनमें से कोई भी ऐतिहासिक दृष्टि कोण से प्रामाणिक नहीं कही जा सकती। पिछले वर्षों 'अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास' नाम से एक पुस्तक डाक्टर सत्यकेतु विद्यालंकार ने लिखी है जिसका दृष्टि-कोण नवीन है, किन्तु उसका आधार भी सुनी-सुनाई अनुश्रुतियाँ ही है। अब तक न तो किसी ने ऐतिहासिक सामग्री खोजने का वास्तविक यत्न किया और न कोई ऐसी सामग्री ही उपस्थित की जो किसी को इस ओर प्रेरित कर सके। अस्तु—इसी अछूते क्षेत्र को लेकर पुस्तक लिखी गई है।

आरम्भ में, प्राप्य ऐतिहासिक सामग्री का विशद विवेचन करके, बताने का यत्न किया गया है कि अनुश्रुतियों पर आश्रित आज तक का हमारा ऐतिहासिक विश्वास कितना तथ्य रखता है और अन्त में पुरातात्विक सामग्री—शिलालेख, मुद्रायें और प्राचीन पुस्तकों—के आधार पर अग्रवाल जाति के इतिहास पर पहली बार वैज्ञानिक दृष्टि से प्रकाश डाला गया है। इस पुस्तक में इतिहास की अपेक्षा ऐतिहासिक विवेचन ही विशेष है। इसमें पाठकों को जातीय इतिहास पर विचार और उसके खोज की प्रेरणा मिलेगी। इसके पढ़ने पर अपने ऐतिहासिक ज्ञान के बोध की कमी और तत्सम्बन्धी खोज की आवश्यकता का विशेष अनुभव होगा।

पुस्तक आज से तीन वर्ष पूर्व लिखी गई और इस अवधि के बीच

इसमें प्रति-पादित मत लेखों के रूप में अग्रवाल हितैषी (आगरा), अग्रवाल हितैषी (बरेली), अग्रवाल सन्देश (काशी) और वैश्य समाचार (दिल्ली) में प्रकाशित हुए। इस प्रकार मेरे विचार पाठकों के सम्मुख आ चुके हैं। मेरा यह मत निर्दोष और सर्वमान्य होगा, ऐसा कहना मूर्खता होगी; किन्तु इतना तो दृढ़तापूर्वक कहा ही जा सकता है कि जो तथ्य मैंने उपस्थित किए हैं वे मौलिक और विचारणीय हैं।

प्रस्तुत पुस्तक को उपयोगी बनाने के उद्देश्य से अन्त में सहायक पुस्तक सूची और अनुक्रमणिका देने का विचार था, किन्तु यह ऐसे समय प्रकाशित हो रही है जब देश में घोर अशान्ति फैली हुई है। ऐसे अशान्तिमय जीवन में इस समय इनका प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है इसलिए, इसके लिए पाठक हमें क्षमा करेंगे। हो सका तो अगले संस्करण में यह त्रुटि पूरी कर दी जायेगी।

पुस्तक में हम तीन चित्र फलक दे रहे हैं जिनके प्रकाशन की आज्ञा हमें पुरातत्व विभाग और गवर्नमेंट एपीग्रेफिस्ट ने उदारता-पूर्वक दी है। उसके लिए हम उनके अनुगृहीत हैं। हम बरवाला से प्राप्त मुद्राओं का भी चित्र प्रकाशित करना चाहते थे और बृटिश म्युजियम के मुद्राविभाग के अध्यक्ष श्रीयुत जे० एलन से उसे उनकी पुस्तक से उद्धृत करने की अनुमति भी प्राप्त हो गई थी, जिसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं। खेद है कि परिस्थितिवश उसे पुस्तक में न दे सके।

पुस्तक के लिखने में अनेक विद्वानों ने सूचनायें, निर्देश, खोज और परामर्श देकर मेरी अतुल सहायता की है। उन लोगों की सहायता के बिना इस पुस्तक का लिखा जाना इतना सुगम न था। इन विद्वानों में से अधिकांश ऐसे लोग हैं जिनके चरणों में बैठकर सीखा जा सकता है, सहायता नहीं ली जा सकती; अन्य का मुझपर बड़े भाई का स्नेह

रहा है। ऐसे लोगों की नामावाली प्रकाशित कर उन्हें धन्यवाद देना अथवा कृतज्ञता प्रकाश करना पवित्र सम्बन्ध को मलिन करना होगा। मेरा ज्ञान उन्हीं लोगों का आशीर्वाद है, इसी आशीर्वाद की आकांक्षा मैं उनसे सदैव करता हूँ, मैं उन्हें दूँ भी तो क्या ?

पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार हो जाने पर भाई डाक्टर सत्यकेतु विद्यालंकार जी ने, पुत्री वियोग से शोकग्रस्त एवं समयाभाव के होते हुए भी, उसे आद्योपान्त देखने और पाण्डुलिपि पर महत्वपूर्ण सूचनायें एवं नोट लिखने का कष्ट किया। आपकी इन सूचनाओं से मुझे पुस्तक की त्रुटियों को कम करने तथा अपना दृष्टिकोण करने में विशेष सहायता मिली है। इसके लिए मैं आपका विशेष कृतज्ञ हूँ।

आदरणीय श्रीबसन्तलालजी मुरारका ने पुस्तक-परिचय और परम श्रद्धेय श्री सर सीतारामजी ने प्रस्तावना लिख कर पुस्तक को सम्मानित किया है, यह आप दोनों महानुभावों से प्राप्त स्निग्ध स्नेह का परिचायक रूप है। जो मेरी दृष्टि में अमूल्य है और उसका मूल्य किसी भी प्रकार चुकाया नहीं जा सकता।

स्थानीय पुस्तकालयों एवं काशी विश्वविद्यालय पुस्तकालय के अध्यक्षों, पुरातत्व विभाग के डाइरेक्टर जनरल तथा अन्य कुछ मित्रों विशेषतः श्री शशिभूषण जी गुप्त (अजमतगढ़ स्टेट) ने अपनी पुस्तकों के उपयोग की सुविधा देकर इस पुस्तक के लिखने में मेरी विशेष सहायता की हैं। इसके लिये मैं आप लोगों का आभार मानता हूँ।

अन्त में सेठ हरकृष्णदास तुलस्यान का उल्लेख न करना कृतघ्नता होगी, जिनके कटुवचनों से ही मर्माहित होकर इस पुस्तक का श्रीगणेश किया गया। साथ ही मैं भाई विट्ठलदास सेठ एम० ए०, सी० सी० एस० का भी अनुग्रहीत हूँ जिनके प्रोत्साहन को पाकर ही यह पुस्तक लिखी जा सकी। कापी तैयार करने में भाई गोविन्ददास गुप्त एवं टाइपिस्ट श्री जंग बहादुरसिंह से जो सहायता मिली है, उसके लिए

उन्हें अनेक धन्यवाद। इन सबके ऊपर मैं भाई कमलनाथ अग्रवाल का महत्व मानता हूँ जिनके उत्साह से पुस्तक प्रकाशित हो रही है। यदि आपने प्रकाशन का उत्साह न दिखाया होता तो पुस्तक अभी कुछ और समय तक अन्धकार के गर्त में पड़ी रहती। इसके लिए मैं आपका अनुगृहीत हूँ।

गोपाल निकेत, आजमगढ़
रक्षा बन्धन १९९९। } **परमेश्वरीलाल गुप्त,**

परिचय

अग्रवाल जाति के इतिहास के सम्बन्ध में अब तक छोटी और बड़ी कई एक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें दन्तकथाओं, भाटों द्वारा कथित किंवदन्तियों तथा पौराणिक कथाओं द्वारा यह बताने की चेष्टा की गई है कि 'अग्रवाल जाति के आदि पुरुष अग्रसेन नाम के एक नृपति थे और उनके १८ पुत्रों के नाम से १८ गोत्र हुए आदि।' वर्तमान पुस्तक के लेखक ने अब तक की प्रकाशित प्रायः सभी पुस्तकों का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि अग्रसेन नाम के कोई ऐतिहासिक नृपति नहीं हुए जिससे अग्रवालों की उत्पत्ति का सम्बन्ध जोड़ा जा सके। आपने अग्रसेन या उग्रसेन नाम के उन सभी राजाओं पर एक समालोचक की दृष्टि से विचार किया है जिनका उल्लेख इतिहास में मिलता है अथवा जिनका सम्बन्ध अग्रवाल जाति से जोड़ने की चेष्टा भिन्न भिन्न लेखकों ने की है।

पुस्तक के पूर्वार्ध में अब तक के प्रचलित विचारों पर आलोचनात्मक दृष्टि से लेखक ने अपने विचार प्रगट किये हैं। इसके बाद उत्तरार्ध में जाति भेद का विकास बताते हुए, आपने वैश्य जातियों के क्रमिक विकास का वर्णन किया है; इसके बाद यह बतलाया है कि अन्य जातियों के समान ही अग्रवाल जाति के मूल में 'गण' और 'श्रेणी' थी। इसी से 'अग्रश्रेणी' और उससे अग्रसेन की कल्पना की गई प्रतीत होती है। इसी प्रकरण से अगरोहे से अग्रवाल जाति का क्या सम्बन्ध था, इसकी विवेचना की गई है। 'अग्रवाल' शब्द पर विचार करते

हुए आपने बतलाया है कि, अग्रवाल शब्द का विकास मुस्लिम काल में हुआ है। इसके पहले इस शब्द का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। आपने अग्रवाल शब्द पर भिन्न भिन्न मतों का विवेचन करते हुये अपना मत इस प्रकार प्रगट किया है :—

" 'अग्रवाल' शब्द का तात्पर्य 'अग्र के निवासी' है। अकेली अग्रवाल जाति ऐसी नहीं है जिसमें वाल प्रत्यय का प्रयोग हुआ हो। पालीवाल, ओसवाल, खण्डेलवाल, वर्णवाल आदि सभी प्रत्यय वाली जातियाँ अपने नाम की निवासबोधक मानती हैं। ओसवालों की अनुश्रुति है कि उनका प्रादुर्भाव ओसनगर से है। खण्डेलवालों की उत्पत्ति जयपुर राज्य के खण्डेल नगर से हुई है। पालीवालों का जोधपुर के पल्लीनगर से सम्बन्ध है। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि अग्रवाल शब्द भी अपनी जाति के मूल निवास का बोधक है।"

इसके बाद परिशिष्ट में नाग वंश, अग्रवाल जाति के प्रचलित गोत्रों और उसके विस्तार, भेद और शाखा के सम्बन्ध में लेखक ने अपने विचार प्रगट किए हैं और बतलाया है कि जो १८ अथवा साढ़े सत्तरह गोत्र माने जाते हैं इसके सम्बन्ध में—

"मेरी धारणा है कि आग्रेय ग्रण में जिन १८ प्रधान कुलों का हाथ रहा, उनका अथवा जिन मित्रों के संघ से वह मित्रपद बना था उनका द्योतक यह गोत्र है। यह भी सम्भव है कि अग्रश्रेणी के रूप में, उसमें, जिन १८ कुलों का निवास रहा हो, उन्हीं के प्रतीक यह गोत्र हों।"

लेखक का यह मत कुछ समीचीन भी प्रतीत होता है, क्योंकि यदि एक ही पिता के १८ पुत्र होते और उन्हीं के करण १८ गोत्र बने हुए होते तो एक ही पिता के वंशजों में परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध की प्रथा प्रचलित न हुई होती।

जो हो पुस्तक बड़ी विवेचना के साथ लिखी गई है और मैं समझता हूँ कि श्री सत्यकेतु जी की पुस्तक 'अग्रवाल जाति का प्राचीन

इतिहास' के बाद इस पुस्तक का प्रकाशित होना यह बतलाता है कि अग्रवाल जाति के नवयुवकों में अपनी जाति के विकास के सम्बन्ध में ऐतिहासिक विवेचन की प्रवृति बढ़ रही है और यह इस जाति के उत्थान के शुभ लक्षण हैं। मैं इस प्रवृति की हृदय से सराहना करता हूँ और लेखक को धन्यवाद देता हूँ कि उसने महाराज अग्रसेन और अग्रवाल जाति के सम्बन्ध में अब तक की गवेषणाओं को ध्यान में रखते हुए अपने निश्चित विचारों को अग्रवाल जाति के सम्मुख रखने का स्तुत्य प्रयत्न किया है; जिससे उसे अपने प्राचीन विकास के सम्बन्ध में सोचने का अवसर मिलेगा और भविष्य में आने वाले लेखकों को इस सम्बन्ध में अधिक खोज करने की प्रेरणा प्राप्त होगी।

कलकत्ता
दीपमालिका संवत् १९९७।

बसन्त लाल मुरारका
(सभापति—अखिल भारतीय अग्रवाल महासभा)

प्रस्तावना

किसी जाति या उपजाति के निकास तथा विकास, उसकी उन्नति तथा अवनति के विषय में सत्य ज्ञान, उसकी गौरव रक्षा, मान-मर्यादा स्थापना, उत्साहोत्तेजन, तथा तीव्र चेतावनी के लिए आवश्यक है—इस सत्य ज्ञान के लिए परिश्रम, निर्भीकता, विद्वत्ता और अन्वेषण-सामर्थ्य चाहिये। अग्रवालों की उत्पत्ति कब और कहाँ से हुई, कौन कौन महापुरुष उसके जन्मदाता तथा श्रेयस्कर हुए, किस-किसने जाति को समृद्धि, सम्पत्ति व वैभव के शिखर पर पहुँचाया, किस-किस ने उसके लिए यश और महत्त्व प्राप्त कराया और किस-किसके द्वारा या किन-किन कारणों से इस अग्रवाल उपजाति (या जाति) का ह्रास हुआ, यह सब जानना आवश्यक ही है।

कुछ पुराणों में, कुछ भाटों ने, कुछ मौखिक किंवदन्तियों में, कुछ अग्रोहे के खंडहरों में, विद्वान् या सहृदय सज्जन इन बातों के पता लगाने का उद्योग करते रहे हैं। कई पुस्तकें भी छप चुकी हैं। किन्तु अभी ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे अंधेरे में टटोलबाज़ी।

श्री परमेश्वरीलाल गुप्त जी, आजमगढ़ निवासी ने अपने परिश्रम स्वरूप यह पुस्तक लिखी है जो एक भिन्न दृष्टिकोण से इस जटिल समस्या पर प्रकाश डालती है; उक्त गुप्तजी की सम्मति में श्री अग्रसेन कोई व्यक्ति न थे। इस कारण उनका वक्तव्य है कि अग्रसेन जयन्ती मनाना केवल भ्रम है। इस पर वाद-विवाद होगा—किन्तु विषय ऐसा गंभीर है जिस पर प्रत्येक विद्वान् हितैषी को अपनी सम्मति रखने और उसको प्रकाश करने का पूर्ण रूप से अधिकार है।

मैं समझता हूँ कि इस पुस्तक को ध्यान से पढ़ा जावेगा। यदि अग्रोहे के खंडहरों की नियमित रूप से खोज जारी रहे तो कौन जानता है कि जैसे मोहिंजोदारो और हरप्पा के खंडहरों से अथवा तक्षिला या सारनाथ के दबे हुए स्थानों से, विस्मयजनक और आँखें खोलनेवाली बातें मिलीं वैसी ही संकुचित रूप में भारत की एक प्रसिद्ध उपजाति अग्रवालों के विषय में भी हमारा ज्ञान अग्रोहे की खुदाई से बढ़े। क्या अग्रवाल धनी-मानी इस ओर संगठित रूप से ध्यान देंगे ? यदि इस पुस्तक से इस ओर बलात्कार ध्यान आकर्षित हो तो श्री परमेश्वरीलाल अपने को धन्य समझेंगे। अस्तु मैं इस पुस्तक का स्वागत करता हूँ जिसका अर्थ यह नहीं कि मैं लेखक महोदय के विचारों से सहमत हूँ।

मेरठ
८—१०—४२

सीताराम

पूर्वार्द्ध

१

किंवदन्तियाँ एवं जनश्रुति

भारतवर्ष की वर्तमान वैश्य जातियों में अग्रवाल जाति का प्रमुख स्थान है। यह सबसे वैभवशाली जाति समझी जाती है।

अग्रसेन

इस जाति के विकास के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के मत प्रचलित हैं। साधारणतया अग्रवाल जाति अपना उद्भव अग्रसेन नाम के एक राजा से मानती है, और अपने को उनका वंशज कहती है। किन्तु अब तक अग्रसेन अथवा अग्रवाल जाति सम्बन्धी कोई प्रामाणिक एवं प्राचीन इतिहास अथवा विवरण प्राप्य नहीं है। अबतक कोई ऐसा अभिलेख नहीं प्राप्त हो सका है जिससे अग्रसेन के सम्बन्ध में कुछ जाना जा सके। अग्रवाल जाति के इतिहास के रूप में जितनी भी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं वे सब भाटों द्वारा कथित किंवदन्तियों पर निर्भर करती हैं और प्रामाणिक अनुमान की जाती हैं।

अग्रवाल जाति का इतिहास लिखने का पहला प्रयत्न स्वर्गीय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी ने किया। उनकी ९ पृष्ठ की पुस्तिका

के आधार पर कितने ही लेखकों ने छोटे-मोटे इतिहास लिखे और श्रीडब्ल्यू क्रूक ने भी अपनी पुस्तक "ट्राइब्स ऐण्ड कास्ट्स" में उसीका अनुसरण किया है। उन्होंने अग्रसेन का जो विवरण दिया है वह इस प्रकार है:—

भारतेन्दु कृत इतिहास

"अग्रसेन पहले प्रताप नगर का राजा था। उसने नागलोक के राजा कुमुद की पुत्री माधवी से विवाह किया। माधवी के साथ विवाह के अनन्तर राजा अग्रसेन ने बहुत से यज्ञ बनारस और हरिद्वार में किए। उन दिनों कोलपुर के राजा महीधर की कन्या का स्वयंवर था। अग्रसेन वहाँ भी गये और महीधर की कन्या को स्वयंवर में प्राप्त किया। अन्त में वह दिल्ली के समीपवर्ती प्रदेश में बस गये और आगरा तथा अगरोहा को राजधानी बना कर राज्य करने लगे। उनका राज्य गङ्गा से हिमालय तक विस्तृत था तथा पश्चिम में उसकी सीमाएँ मारवाड़ को छूती थीं[१]। उनके १८ रानियाँ थीं, जिनसे ५४ पुत्र तथा १८ कन्याएँ हुईं। वृद्धावस्था में उन्होंने निश्चय किया कि प्रत्येक रानी के साथ एक-एक यज्ञ करें। प्रत्येक यज्ञ एक-एक आचार्य्य के सुपुर्द था। इन्हीं १८ आचार्यों के नाम से उन १८ गोत्रों के नाम पड़े हैं जिनका प्रादुर्भाव राजा अग्रसेन से हुआ।"

भारतेन्दु बाबू ने अपनी पुस्तक की भूमिका में लिखा है कि

१—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—अगरवालों की उत्पत्ति, पृष्ठ ४।

"यह परम्परा की जनश्रुति और प्राचीन लेखों से संग्रहीत हुई है परन्तु इसका विशेष भाग भविष्यपुराण के उत्तर भाग में के श्रीमहालक्ष्मी व्रत की कथा से लिया गया है[१]।" इस कथन से जान पड़ता है कि उनकी पुस्तक का आधार कोई पौराणिक ग्रन्थ है। अभी हाल में डा० सत्यकेतु विद्यालङ्कार ने "अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास" नामक एक पुस्तक लिखी है। उन्होंने अपनी पुस्तक में दो प्राचीन पुस्तकों का उल्लेख किया है; जिनमें से एक, उन्हें भारतेन्दु बाबू के निजी पुस्तकालय में हस्तलिखित पुस्तिका के कुछ पृष्ठों के रूप में मिली थी। उनका कहना है कि भारतेन्दुजी ने उसे किसी प्राचीन हस्त-लिखित पुस्तक से नक़ल कराया था[२]। यह पुस्तक भविष्य पुराण के 'लक्ष्मी महात्म्य' नामक भाग का एक अध्याय कहा जाता है और इसका नाम 'अग्रवैश्य वंशानुकीर्तनम्' है। सम्भवतः भारतेन्दुजी ने इसीके आधार पर अपनी पुस्तक लिखी थी। इस हस्तलिखित पुस्तक में अग्रसेन के सम्बन्ध में निम्न वृत्तान्त दिया है:—

अग्रवैश्य वंशानुकीर्तनम्

"राजा बल्लभ का पुत्र अग्रसेन हुआ। यह एक शक्तिशाली राजा था। देवताओं का राजा इन्द्र भी उसके बल, वैभव से ईर्षा करता था। परिणाम यह हुआ कि इन्द्र और अग्रसेन में लड़ाई शुरू हुई। इन्द्र द्यूलोक का राजा है इसलिए उसने अपने

१—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—अगरवालों की उत्पत्ति, पृष्ठ १।

२—सत्यकेतु विद्यालङ्कार—अग्रवाल जातिका प्राचीन इतिहास, पृष्ठ ३५।

शत्रु अग्रसेन के राज्य में वर्षा का होना बन्द कर दिया। दीर्घ काल तक अग्रसेन के राज्य में वर्षा नहीं हुई और इससे बड़ा दुर्भिक्ष पड़ा। पर इससे अग्रसेन निराश न हुआ। उसने महालक्ष्मी की पूजा आरम्भ की और उसे प्रसन्न करने के लिए अनेक प्रकार के तप किए। अन्त में अग्रसेन की भक्ति और पूजा से प्रसन्न होकर महालक्ष्मी उसके सम्मुख प्रगट हुईं और अपने भक्त को सम्बोधित करके बोलीं—"महाराज, जो वर चाहो माँग लो, मैं तुम्हारी पूजा और भक्ति से सन्तुष्ट हूँ, जो वर माँगोगे वही मैं पूर्ण करूँगी।"

इस पर राजाने उत्तर दिया—"यदि आप सचमुच प्रसन्न हैं तो इन्द्र को मेरे वश में लाइए।" लक्ष्मी ने स्वीकार किया और साथ ही अग्रसेन को कोलपूर जाने का आदेश दिया। वहाँ नागों के राजा महीरथ की कन्या का स्वयंवर था। राजा अग्रसेन महालक्ष्मी के वरदान से बड़ा सन्तुष्ट हुआ और देवी को प्रणाम कर कोलपूर के लिये रवाना हुआ। वहाँ बड़ा भारी उत्सव मनाया जा रहा था। दूर-दूर से आए हुए राजा और राजकुमार सभा में इकट्ठे थे। सब ऊँचे-ऊँचे राजसिंहासनों पर बैठे थे। महालक्ष्मी की आज्ञा का पालन कर अग्रसेन वहाँ पहुँचा और नागकन्या का पाणिग्रहण करने में सफल हुआ। नागकन्या और अग्रसेन का विवाह बड़ी धूमधाम से हुआ। इसके बाद वह अपनी राजधानी लौट आया।

यह सब समाचार इन्द्र ने नारद से सुना। राजा अग्रसेन

के उत्कर्ष को सुनकर इन्द्र बहुत घबड़ाया। उसने सन्धि का प्रस्ताव देकर नारद को अग्रसेन के दरबार में भेजा। इस प्रकार इन्द्र और अग्रसेन में सन्धि हुई पर राजा अग्रसेन पूर्णतया सन्तुष्ट न हुए। वे एक बार फिर यमुना तट पर गये और अपनी नव-विवाहिता बधू नागकन्या के साथ तपस्या आरम्भ की। कुछ समय की घोर तपस्या के बाद देवी महालक्ष्मी फिर प्रगट हुईं और अग्रसेन से बोलीं—"हे राजा इन तपस्याओं को बन्द करो। तुम गृहस्थ हो, गृहस्थाश्रम सब धर्मों में मुख्य है। सब धर्मों और आश्रमों के लोग गृहस्थ में ही आश्रय लेते हैं। इसलिए उचित नहीं कि तुम तपस्या करो। जैसा मैं कहती हूँ करो। इससे तुम्हें सब सुख वैभव प्राप्त होगा। तुम्हारे वंश के लोग सदा सुखी और सन्तुष्ट रहेंगे। तुम्हारा वंश सब जाति वर्णों में सबसे मुख्य रहेगा। आज से लेकर तुम्हारा यह कुल तुम्हारे नाम से प्रसिद्ध होगा और तुम्हारी यह प्रजा अग्रवंशीया कहला-येगी। मेरी पूजा तुम्हारे कुल में सदा स्थिर रहेगी और इसीलिए यह सदा वैभव पूर्ण ही रहेगा।" इस प्रकार कहकर देवी महा-लक्ष्मी अन्तर्ध्यान हो गयीं।

राजा अग्रसेन ने भी देवी महालक्ष्मी की आज्ञा पालन कर यमुना तट को त्याग दिया। वह स्थान जहाँ कि इन्द्र वश में किया गया था हरिद्वार से चौदह कोस पच्छिम गङ्गा और यमुना के बीच स्थित था। वहाँ पर राजा अग्रसेन ने स्मारक बनवाया। उसने एक नवीन नगर की स्थापना की। इस नगर का

विस्तार १२ योजन था। वहाँ उसने अपनी ही जातिके बहुत से लोगों को बसाया; और करोड़ों रुपया शहर बसाने में खर्च किया। नगर चार मुख्य सड़कों द्वारा विभक्त था। प्रत्येक सड़क के दोनों तरफ राज-प्रासादों और ऊँची-ऊँची इमारतों की पंक्तियाँ थीं। नगर में बहुत से उद्यान और कमलों से भरे हुए तालाब थे। नगर के ठीक बीच में देवी लक्ष्मी का विशाल मन्दिर था। वहाँ रातदिन देवी महालक्ष्मी की पूजा होती थी। राजा अग्रसेन ने १७॥ यज्ञ करके मधुसूदन को सन्तुष्ट किया। अट्ठारहवें यज्ञ के बीच में एक बार घोड़े का माँस अकस्मात इस प्रकार बोल उठा—"हे राजन्! माँस तथा मद्य के द्वारा वैकुण्ठ के जय करने का प्रयत्न मत करो। हे दयानिधि, इस माँस मद्य से रहित ज़ीव कभी पाप में लिप्त नहीं होता।" यह सुनकर राजा अग्रसेन को मद्य माँस से घृणा हो गई। यज्ञ को बीच में ही बन्द कर दिया और अट्ठारहवाँ यज्ञ अपूर्ण ही रह गया। इसलिए राजा अग्रसेन के १७॥ यज्ञों का उल्लेख किया गया है।

एक दिन जब राजा अग्रसेन पूजा पाठ में लगे थे, देवी महालक्ष्मी प्रकट हुईं। उन्होंने उसे सम्बोधन करके कहा—"अब तुम बूढ़े हो गये हो। धर्म का अनुसरण कर अब तुम्हें अपना राज्य अपने पुत्र के सुपुर्द करना चाहिए।" अग्रसेन ने यही किया। अपने बड़े लड़के विभु को राजगद्दी पर बिठा कर वह स्वयं पत्नी के साथ बन को चले गये। दक्षिण में गोदावरी नदी के तट पर जहाँ ब्रह्मसर है, वहाँ जाकर घोर तप किया और अन्त

में लक्ष्मी के आदेश से अपनी स्त्री के साथ स्वर्ग लोक गए[1]।

अन्य किंवदन्तियों के अनुसार जिसे कतिपय लेखकों ने अपनाया है, अग्रसेन का जन्म राजा महीधर की स्त्री भेदकुँवर से हुआ था। उनके जन्म के हर्ष में महीधर ने यमुना तट पर आगरा शहर बसाया। जब १२ वर्ष की अवस्था थी तभी सेना की एक टुकड़ी लेकर अग्रसेन तीर्थयात्रा को निकले। लौटते समय केतु नगरी के राजा सुन्दरसेन की पुत्री सुन्दरवती से विवाह किया। उनका दूसरा विवाह चम्पावती के राजा धनपाल की पुत्री धनपाला से हुआ। जब अग्रसेन की आयु ३९ वर्ष की हुई तो महीधर का देहान्त हो गया। उन्होंने राज्य अपने हाथ में लेकर आगरा को अपनी राजधानी बनाया और बाद में अगरोहा को बसाया[2]।

अगरोहा निर्माण के विषय में कहा जाता है कि महीधर के स्वर्गवासी होने पर अग्रसेन उन्हें पिण्डदान देने 'गया' गये। वहाँ महीधर ने पिण्डदान स्वीकार नहीं किया और कहा कि 'लोहागढ़' जाकर पिण्डदान दो तो मेरी मुक्ति होगी। तदनुसार लोहागढ़ जाकर उन्होंने पिण्डदान दिया। पिण्डदान देकर वापस लौटते समय मार्ग में एक जङ्गल पड़ा। उस जङ्गल में

१—सत्यकेतु विद्यालङ्कार—अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास पृष्ठ ८०, ८४, ८७, १५८, १८०।

२—डा० रामचन्द्र गुप्त—अग्रवंश पृष्ठ ३८; गुलाबचन्द एरण—अग्रवाल जाति का प्रामाणिक इतिहास पृष्ठ ३४; अग्रसेनजी का जीवन चरित्र—पृष्ठ १४।

करीर के वृक्ष के आड़ में सिंहनी बच्चा जन रही थी। इससे सिंहनी के कार्य में विघ्न पड़ा। इसी समय अर्धोत्पन्न बच्चे ने निकल कर राजा के हाथी को एक थप्पड़ मारा। इस घटना से अग्रसेन को महान आश्चर्य हुआ और उन्होंने विद्वानों को बुलाकर कुल घटना सुनाई इस पर पण्डितों ने सोच-विचार कर कहा कि यह भूमि बहुत बलवती है इसलिए यदि आप यहाँ पर नगर का निर्माण करें तो भगवान विष्णु और महादेव आपको दर्शन देंगे और आपका वंश भी बहुत उन्नति करेगा। तदनुसार अग्रसेन ने वहाँ नगर निर्माण कराया[1]।

उसके बाद ही राजा जनक के स्वयंवर में जाते हुए परशुराम अगरोहा से गुज़रे और अग्रसेन से उनकी कहा-सुनी हो गई, जिस पर परशुराम ने उन्हें निःसन्तान होने का शाप दिया। उसके बाद अग्रसेन तप करने चले गये। वहाँ कौशिक मुनि ने कहा कि क्षत्रिय धर्म त्याग दो और वैश्य धर्म धारण करो तो सन्तान होगी। तदनुसार अग्रसेन ने क्षत्रिय धर्म त्यागकर वैश्य धर्म धारण किया[2]।

ऊपर की किंवदन्ती से जान पड़ता है कि अग्रसेन ने १२ वर्ष

१—डा० रामचन्द्र गुप्त—अग्रवंश पृष्ठ ४०; गुलाबचन्द एरण—अग्रवाल जाति का प्रामाणिक इतिहास, पृष्ठ १६; ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द—श्री विष्णु अग्रसेन वंशपुराण (भूतखंड) पृष्ठ १०; अग्रसेनजी का जीवन चरित्र पृष्ठ १५–१६।

२—ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द—श्री विष्णु अग्रसेन वंशपुराण (भूतखण्ड) पृ० १२; अग्रसेन जी का जीवन चरित्र पृ० १७।

की अवस्था में सुन्दरवती से विवाह किया। कतिपय किंवदन्तियाँ ऐसी हैं जिनमें कहा गया है कि वे ५० वर्ष की आयु तक ब्रह्मचारी रहे[1]।

डाक्टर सत्यकेतु विद्यालंकार ने अपनी पुस्तक में जिस दूसरी हस्तलिखित प्राचीन पुस्तक का उल्लेख किया है उसका नाम "उरु चरितम्" है। यह पुस्तक उन्हें अखिल भारतवर्षीय वैश्य महासभा के प्रचारक पं० मंगलदेव से प्राप्त हुई थी। उसे उन्होंने मैनपुरी जिले के किसी गाँव के किन्हीं लाला अवधविहारीलाल के पास विद्यमान मूल हस्तलिखित ग्रन्थ से नकल किया था[2]। इस पुस्तक में लिखा है कि—"राजा अग्रसेन का भाई शूरसेन था। दोनों ने मिलकर गौड़ देश में अपना राज्य बसाया और गर्ग मुनि के आदेश से यज्ञ का निश्चय किया और १७ यज्ञ पूरा करके जब १८ वाँ यज्ञ करने लगे तो एक दिन हिंसा से घृणा हो गई और अधूरा यज्ञ बन्द कर दिया। इन यज्ञों से दोनों भाइयों की सन्तति के गोत्र निश्चित हुए। इसके आगे अग्रसेन का कोई वृत्तान्त "उरु चरितम्" में नहीं है। केवल शूरसेन का वृत्तान्त लिखा है। उसके अनुसार शूरसेन यात्रा करने निकला और लौटते हुए मथुरा रुका। वहाँ के चन्द्रवंशी राजा उरु ने उसका समारोह के साथ स्वागत किया। उस राज्य की दयनीय अवस्था

उरु चरितम्

१—अग्रवाल, वर्ष २ खण्ड २ संख्या ५ पृष्ठ ८००।

२—सत्यकेतु विद्यालङ्कार-अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास पृष्ठ ३६।

देख कर शूरसेन को बड़ा दुःख हुआ। राजा ने उससे सचिव बनकर अवस्था सुधारने का अनुरोध किया। अनुरोध स्वीकार कर शूरसेन राज्य प्रबन्ध करने लगा। फलस्वरूप कुछ दिनों में अवस्था बिल्कुल ठीक हो गयी। इससे राजा बड़ा प्रसन्न हुआ और उसके प्रति कृतज्ञता प्रकाश करने के लिए मथुरा का दूसरा नाम शूरसेन रक्खा।[१]

संक्षेप में यह अग्रसेन के सम्बन्ध में प्रचलित किंवदन्तियों और कथाओं का सार है, जिनको पुष्ट करने वाला कोई ऐतिहासिक प्रमाण अबतक प्राप्य नहीं है। इनके आधार पर अग्रसेन नामक राजा से अग्रवाल जातिके विकास की जो धारणा लोगों में फैली है वह भ्रमात्मक सी जान पड़ती है। मुझे ही नहीं प्राचीन इतिहास के अद्वितीय विद्वान रायबहादुर महामहोपाध्याय डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा को भी यह मत मान्य नहीं है[२]। इसलिये आगामी पृष्ठों में अग्रसेन के सम्बन्ध में अन्वेषण एवं विवेचन करना उचित होगा।

भ्रमात्मक धारणा

१—डा० सत्यकेतु विद्यालङ्कार—अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास पृष्ठ ६४; १५६–१८०।

२—लेखक के १ सितम्बर १९४१ के पत्र के उत्तर में।

२

दो प्राचीन ग्रन्थ

डा० सत्यकेतु विद्यालङ्कार ने "अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास" नाम से जो पुस्तक लिखी है वह काफी विवेचनात्मक एवं खोजपूर्ण समझी जाती है। उसमें आपने 'उरु चरितम्' और 'अग्रवैश्य वंशानुकीर्तनम्' नामक दो हस्तलिखित पुस्तिकाओं को प्राचीन एवं प्रामाणिक मान कर अग्रसेन का अस्तित्व स्थापित किया है। इन पुस्तिकाओं में वर्णित कथाओं का उल्लेख हम पूर्व प्रकरण में कर चुके हैं। डाक्टर साहब ने इन पुस्तिकाओं की प्रामाणिकता का कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया है, इसलिए आवश्यक जान पड़ता है कि अग्रसेन के विवेचन से पूर्व इन दोनों पुस्तिकाओं की प्रामाणिकता का विवेचन कर लिया जावे।

प्रामाणिकता की आवश्यकता

'उरु चरितम्' में किन्हीं 'उरु' नामक राजा का वृत्तान्त लिखा है और उसे चन्द्रवंशी बताया गया है। यह पुस्तक किसने लिखी, कब लिखी गयी, आदि बातों का कुछ पता नहीं है, अतएव इसकी प्राचीनता का निर्णय करना बहुत कठिन है। पुस्तक की भाषा देखकर डा० सत्य-

उरु चरितम्

केतुजी को स्वयं ही उसकी प्राचीनता पर सन्देह है।[१] अस्तु, हम इस पुस्तक में वर्णित कथा के आधार पर इसकी प्रामाणिकता पर विचार करेंगे।

उरु की पौराणिकता

पुस्तक का उद्देश्य 'उरु' का चरित्र-वर्णन है, इसलिए आवश्यक है कि 'उरु' का पौराणिक अस्तित्व देखा जाय। क्योंकि चन्द्रवंश पुराण का एक प्रमुख वंश है और उसमें उसकी विस्तृत वंशावली दी हुई है। दुःख है कि 'उरु' नामक किसी भी राजा का पता पुराणों में नहीं है, जिसका सम्बन्ध चन्द्रवंश से ज्ञात होता हो। चन्द्रवंश में 'उरु' का नाम न होना उसके अस्तित्व को सन्दिग्ध कर देता है।

शूरसेन

'उरु चरितम्' में एक स्थान पर लिखा है कि "उरु ने शूरसेन (अग्रसेन के भाई) के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रगट करने के लिए मथुरा का दूसरा नाम शूरसेन रक्खा।[२] डा० सत्यकेतुजी स्वयं इस बात पर विश्वास करने में सङ्कोच करते हैं; फिर भी कल्पना करते हैं कि हो सकता है कि शूरसेन ने अपने नाम से शौरसेन गण की स्थापना की हो और यही गण शूरसेन वैश्यों के रूप में परिवर्तित हो गये हों।[३] जान पड़ता है कि डाक्टर साहब ऐसी कल्पना करते

१—सत्यकेतु विद्यालङ्कार—अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास, पृष्ठ ३७।

२—वही, पृष्ठ २०८।

३—वही, पृष्ठ २१०।

समय इस बात को भूल गये कि रामायण, पुराण, आदि मान्य ग्रन्थों के अनुसार रामचन्द्र के भाई शत्रुघ्न के पुत्र शूरसेन के नाम से मथुरा का नाम शूरसेन पड़ा था।[1] ऐसी अवस्था में 'उरु चरितम्' कथित शूरसेन के नाम से मथुरा का नाम शूरसेन होने और 'शौरसेन गण' की कल्पना असङ्गत एवं अनुपयुक्त जान पड़ती है।

'उरु चरितम्' में लिखा है कि 'अग्रसेन ने अपने निवास के लिए गौड़ देश को निश्चित किया जो हिमालय से संवृत है और गङ्गा जमुना नदियाँ इसमें बहती हैं।[2] इसके अनुसार गौड़ प्रदेश की स्थिति सहारनपूर—हरद्वार के आसपास होनी चाहिए। इस कथन को आधार मान कर अगरोहे से इस प्रदेश का सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए डाक्टर सत्यकेतुजी गौड़ की स्थिति पश्चिमी संयुक्त-प्रान्त और पूर्वी पञ्जाब अर्थात् वर्तमान मेरठ और अम्बाला की कमिश्नरी बताते हैं। किन्तु पुराणों के अनुसार प्राचीन काल में गौड़ उत्तर-कोशल (अयोध्या प्रान्त) को कहते थे और उसकी राजधानी श्रावस्ती थी।[3] गोंडा या 'गोंड़ा' नामक ज़िला इस कथन को पुष्ट करता है। इसके अनुसार गौड़ देश गङ्गा-जमुना के बीच तो

गौड़ देश

१—जयचन्द विद्यालङ्कार—भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग १ पृष्ठ १५७।

२—सत्यकेतु विद्यालंकार—अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास, पृष्ठ १६८।

३—कूर्मपुराण १. २०; लिंगपुराण १. २० (इस सूचना के लिए लेखक डा० ए. एस. आल्तेकर (काशी विश्वविद्यालय) का आभारी है)।

नहीं है किन्तु हिमालय से संवृत अवश्य है। इसके अनुसार अग-रोहा का स्थान पञ्जाब में न होकर पूर्वी युक्तप्रान्त में, गोंडा अथवा उसके आसपास के किसी जिले में कहीं होना चाहिए। किन्तु उसका इस गौड़ देश के साथ कोई साम्य नहीं हो सकता। अपने कथन की पुष्टि में डॉक्टर सत्यकेतु का अनुमान है कि पच्छिमी यू० पी० तथा पूर्वी पञ्जाब में जो ब्राह्मण पाये जाते हैं वे गौड़ कहाते हैं, इस कारण इस प्रदेश का नाम गौड़ है।[१] किन्तु अबतक गौड़ों के मूल निवास का पंजाब में होने का कोई ऐतिहासिक प्रमाण प्राप्य नहीं है। सर जार्ज कैम्पबेल ने 'घग्घर' से गौड़ शब्द के विकास की कल्पना की है।[२] किन्तु ऐतिहासिक प्रमाण बताते हैं कि 'घग्घर' का प्राचीन नाम दृषद्वती था। इससे भी उसका पता नहीं लगता। यदि गौड़ ब्राह्मणों के वर्तमान निवास के बल पर पंजाब में गौड़ की कल्पना की जाती है तो यह भी दृष्टि में रखना होगा कि कायस्थों का एक बड़ा भाग जो 'गौड़ कायस्थ' के नाम से प्रसिद्ध है, आज़मगढ़, गोरखपुर और बनारस के आसपास निवास करता है, उसको हम क्यों न गौड़ कल्पना करें? डाक्टर आल्तेकर का कथन है कि 'पंचगौड़ ब्राह्मण' शब्द से अनुमान होता है कि वे लोग युक्तप्रान्त में ही बिखरे थे और यहीं से इधर उधर

१—सत्यकेतु विद्यालंकार—अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास पृष्ठ २०६; प्रस्तुत पुस्तक के मूल पाण्डुलिपि पर नोट।

२—सर जार्ज कैम्प बेल—एथनालोजी आफ इण्डिया।

फैले।[1] ऐसी अवस्था में डाक्टर सत्यकेतु के कल्पना की संगति नहीं बैठती।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'उरु चरितम्' के लेखक को वास्तविकता का तनिक भी ज्ञान नहीं है, उसने कुछ सुनी सुनाई बातों को लेकर कल्पना के बल पर सारे कथा की सृष्टि की है। उसके आधार को हम प्रामाणिक नहीं मान सकते। वह केवल सर्व-साधारण-कथित अनुश्रुतियों का संकलन मात्र है। उसका मूल्य अग्रवाल जाति सम्बन्धी कही जाने वाली किसी भी साधारण किंवदन्ती से अधिक नहीं आँका जा सकता।

इसी प्रकार का ग्रन्थ 'अग्रवैश्य वंशानुकीर्तनम्' भी है। उसकी मूल प्रति के अन्त में लिखा है—"इति श्री भविष्यपुराणे लक्ष्मी महात्मे केदारखण्डे अग्रवैश्य वंशानुकीर्तनम् षोडशोऽध्याय:"।[2] इससे ज्ञात होता है कि वह भविष्य पुराण के लक्ष्मी महात्म्य का एक अंश है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी ने 'अगरवालों की उत्पत्ति' की भूमिका में लिखा है कि "इसका विशेष भाग भविष्य पुराण के श्रीमहालक्ष्मी कथा से लिया गया है"।[3] सम्भवत: उनका संकेत इसी पुस्तक की ओर है क्योंकि इस पुस्तक की प्रति डा० सत्यकेतु को भारतेन्दु बाबू के मकान से ही प्राप्त

अग्रवैश्य वंशानुकीर्तनम्

१—डा० ए. एस. आल्तेकर–लेखक के नाम पत्र ता० १६-२-१९४०।

२—सत्यकेतु विद्यालंकार–अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास, पृष्ठ ३५।

३—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—अग्रवालों की उत्पत्ति पृष्ठ १।

हुई है तथा अबतक इस पुस्तक की कोई भी दूसरी प्रति अन्यत्र प्राप्य नहीं है।

कितने ही लोगों ने भारतेन्दु बाबू की भूमिका पढ़कर भविष्य पुराण की छान बीन की, पर उसमें उपर्युक्त अंश का कहीं पता नहीं लगा। श्री विष्णु अग्रसेन वंश पुराणकार ने लिखा है कि उसने एक भविष्य पुराण की मुद्रित और कई एक लिखित प्रतियाँ देखी पर उसमें अग्रवालों के विषय में कुछ नहीं है।[१] मैंने भी भविष्य पुराण की कई प्रतियों की छानबीन की पर मुझे उसमें अग्रसेन या अग्रवाल जाति सम्बन्धी एक भी शब्द नहीं मिला। इस सम्बन्ध में डाक्टर सत्यकेतुजी का समाधान है कि "अग्रवैश्य वंशानुकीर्तनम् या 'महालक्ष्मी व्रत कथा' भविष्य पुराण नाम से जो पुराण मिलता है उसका अंग नहीं है......संस्कृत में सैकड़ों इस प्रकार की पुस्तिकाएँ मिलती हैं जिनकी भूमिका में उन्हें भविष्य पुराण या भविष्योत्तर पुराण का अंश होना लिखा जाता है। भविष्य-पुराण, भविष्योत्तर पुराण तथा उनके खण्ड ग्रन्थ सब अलग-अलग हैं। इन खण्ड ग्रन्थों में से कुछ १३ वीं व १२ वीं सदी तक पुराने हैं। इन सबका आनुश्रुतिक मूल्य पुराणों के सदृश ही है।"[२] यदि यह कथन मान्य मान लिया जावे तो भी विचार-

भविष्य पुराण

१—ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द—श्रीविष्णु अग्रसेन वंशपुराण [जीर्णोद्धार खण्ड] पृष्ठ २८।

२—सत्यकेतु विद्यालंकार—प्रस्तुत पुस्तक के मूल पाण्डुलिपि पर नोट।

णीय है कि श्री महालक्ष्मी व्रत कथा नाम से कई पुस्तिकाएँ छप कर प्रकाशित हुई हैं और इस नाम की अनेक हस्तलिखित पुस्तकें काशी के सरस्वती पुस्तकालय, मद्रास और पूना के संस्कृत पुस्तकालयों तथा लन्दन के इन्डिया ऑफिस लाइब्रेरी में विद्यमान हैं; पर उनमें से किसी में भी इस पुस्तिका अथवा उसके किसी अंश या अग्रवाल वैश्यों के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं है। ऐसी अवस्था में 'अग्रवैश्य वंशानुकीर्तनम्' को इस अकेली प्रति पर कैसे विश्वास किया जा सकता है ?

डा० भगवानदास का मत

संस्कृत साहित्य और दर्शन के अद्वितीय विद्वान् डाक्टर भगवान्दासजी का कथन है कि अग्रवाल जाति के सम्बन्ध में किसी पुराण में कुछ भी नहीं है।[1] साथ ही कई पुराण ऐसे हैं जिनके आदि अन्त का ठीक पता नहीं चलता—जैसे पद्म, स्कन्द, भविष्य आदि। इससे यह सुविधा है कि जब किसी नई बात के लिए विशेष प्रमाण आदि की आवश्यकता होती है तो ढूँढ़ने खोजने से इससे कुछ न कुछ अपूर्व अध्याय चतुर (कार्यकुशल) पंडितजन को अपने घर में ही मिल जाते हैं।[2] इस महान् विद्वान की इस सम्मति के बाद हम तो समझते हैं कि अग्रवैश्य वंशानुकीर्तनम के प्रक्षिप्त होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता। वह भी किसी ऐसे

१—डाक्टर भगवान्दास-लेखक के नाम सौर तिथि १२-१०-१९९६ का पत्र।

२—डाक्टर भगवान्दास—समन्वय [प्रथम संस्करण] पृ० २०७।

ही कार्यकुशल पंडितजन के घर से मिला हुआ अपूर्व अध्याय है। किन्तु डाक्टर सत्यकेतु का विश्वास है कि वह ऐसी अनुश्रुति के आधार पर लिखी गई है "जिसकी कल्पना और निर्माण कोई कार्य-कुशल (चतुर) पंडित जन नहीं कर सकता।" आपकी सम्मति में "दोनों ग्रन्थ (उरु चरितम् और अग्रवैश्य वंशानुकीर्तनम) वैश्यकाल की प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति पर आश्रित हैं और इनका उपयोग अग्रवाल इतिहास के लिए अवश्य किया जा सकता है।" साथ ही आप इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि "इनका मूल्य किसी अनुश्रुति से अधिक नहीं है।" [२]

प्रमाणिकता का अभाव

अग्रवैश्य वंशानुकीर्तनम् की प्रति पर लिखे जाने की तिथि संवत् १९११ चैत्र मास की द्वादशी गुरुवार दी हुई है [३] और उरु चरितम् पर तिथि का पता नहीं है। अग्रवैश्य वंशानुकीर्तनम् की जो प्रति उपलब्ध है उसे लिखे हुए एक शताब्दी भी नहीं बीती। जो तिथि दी गयी है उसमें पक्ष का निर्देश नहीं है और न लेखक या उसके नकल करने वाले का ही कुछ पता है। प्राचीन ग्रन्थों में साधारणतया इस प्रकार की भूल नहीं हुआ करती। यदि उस प्रति को, जिससे वर्तमान प्रतिलिपि की गई है, मूल कहें तो सम्भवतः अनुचित न होगा। ऐसी अवस्था में निःसंकोच अनुमान किया जा सकता है कि किसी कार्यकुशल

२—सत्यकेतु विद्यालंकार—प्रस्तुत पुस्तक के मूल पाण्डुलिपि पर नोट।

३—सत्यकेतु विद्यालंकार—अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास पृ० १८०।

चतुर पंडित ने प्रचलित अनुश्रुतियों को ही पौराणिक रूप दे दिया है। उसमें कोई ऐसी बात नहीं जान पड़ती जो कल्पना में न आ सके। इसे १२ वीं या १३ वीं शताब्दी पूर्व ले जाने के लिए कोई भी साधन नहीं है। इसलिए उसे आँख मूँदकर प्रमाण नहीं मान सकते और न उसे आधुनिक छपी हुई पुस्तकों में वर्णित किंवदन्तियों से अधिक महत्त्व ही दे सकते हैं। उसके तथ्यों की छान-बीन आवश्यक है।

३

अग्रसेन के पूर्वज

प्राचीन युगीन भारत का इतिहास, पुराणों में बहुत कुछ सुरक्षित पाया जाता है। यद्यपि पुराण ग्रन्थों में बहुत कुछ अत्युक्तिपूर्ण कथन पाये जाते हैं, जिन्हें अमत्त इतिहास नहीं कह सकते, फिर भी स्मिथ, पार्जीटर आदि ऐतिहासिकों का स्पष्ट मत है कि पुराणों को ध्यान पूर्वक पढ़ने पर उनमें बहुत सी इतिहास की बहुमूल्य सामग्री मिल सकती है। उसमें समस्त प्राचीन राजवंशों की वंशावली पूरी पीढ़ियों तक विस्तृत रूप में वर्णित है। हमारे यहाँ राजवंश की वंशावलियों पर सदैव से ही बड़ा ध्यान रहा है, इसलिए पौराणिक राजवंशों की दृढ़ता मानी जा सकती है।[१] पूर्वोक्त किंवदन्तियों के अनुसार अग्रसेन एक प्राचीन एवं प्रख्यात शासक कहे जाते हैं। उनके सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा जाता है उसे प्रामाणिक मानने के पूव पुराणों के आधार पर

पुराणों का महत्व

१—मिश्रबन्धु–भारतवर्ष का इतिहास (प्रथम खण्ड) भूमिका, (प्रथम संस्करण) पृ० १४।

उनके पूर्वजों की कथित वंशावलियों की समीक्षा कर लेना उचित होगा।

डाक्टर सत्यकेतु ने 'उरु चरितम्' के आधार पर अग्रसेन के पूर्वजों को सुप्रसिद्ध 'पौराणिक वैशालक वंशीय' बताया है। [१]

वैशालक वंश

उनके कथनानुसार 'मनु' पुत्र 'नैदृष्ट' के नाभाग हुए। नाभाग के भलन्दन और भलन्दन के वात्सप्रिय हुए। वात्सप्रिय के मांकील और प्रांशु हुए। फिर मांकील के वंश में अज्ञात पीढ़ियों के बाद धनपाल हुए। [२] धनपाल के पारवर्ती जनों की जो वंशावली डाक्टर सत्यकेतु ने दी है वैसी ही वंशावली भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र ने भी अपनी पुस्तक में दी है और उसी को कुछ हेर फेर के साथ श्री डब्लू० क्रूक, पं० हीरालाल शास्त्री, शालग्राम कवि और 'ब्राह्मणोत्पत्ति मार्तण्ड' के लेखक ने अपनाया है इन पुस्तकों में धनपाल के पूर्ववर्तियों का कहीं पता नहीं है।

'उरु चरितम्' के अनुसार धनपाल के ८ सन्तानें हुईं जिनके नाम क्रम से शिव, नल, नन्द, कुमुद, अनल, वल्लभ, कुन्द और शेखर थे। [३] भारतेन्दु बाबू ने अपनी पुस्तक में कुमुद के स्थान पर मुकुन्द और अनल के नाम पर अनिल लिखा है। [४] लेकिन

१—सत्यकेतु विद्यालंकार—अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास, पृ० १०१।

२—वही, पृष्ठ १०२-१०३।

३—वही, पृ० १०३।

४—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—अगरवालों की उत्पत्ति पृष्ठ १।

"ब्राह्मणोत्पत्ति मार्तण्ड" में अनल और अनिल दोनों नाम हैं, नल का नाम नहीं है।[१] क्रूक साहब ने शेखर के स्थान पर शुक का उल्लेख किया है।[२]

उरु चरितम् के अनुसार शिव से आगे की वंशावली[३] इस प्रकार है :—

शिव
|
आनन्द
|
अय
|
विश्य
|
(वंश में)
सुदर्शन
|
धुरन्धर
|
नन्दिवर्धन
|
अशोक
|

१—श्री विष्णु अग्रसेन वंश पुराण (भूतखण्ड), पृष्ठ ३।

२—डब्लू, क्रूक—"ट्राइब्स ऐण्ड कास्ट्स आफ एन० डब्लू० पी० ऐण्ड अवध" भाग १ पृष्ठ १४।

३—सत्यकेतु विद्यालंकार—अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास, पृष्ठ १८०–१८७; परिशिष्ट ७।
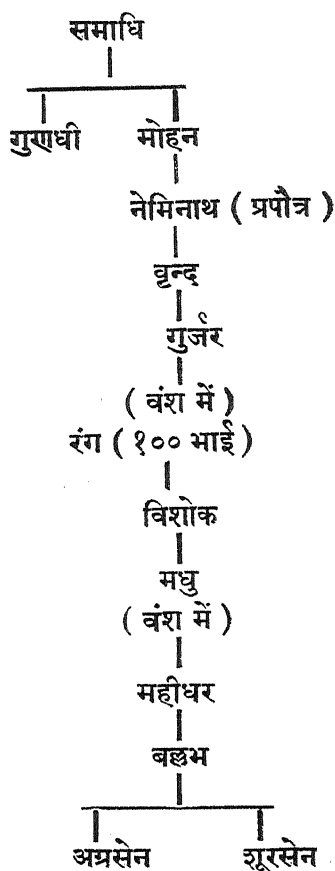
भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र [१] और पण्डित हीरालाल शास्त्री

१—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—अगरवालों की उत्पत्ति, पृष्ठ १।

२—हीरालाल शास्त्री—अग्रवाल वैश्योत्कर्ष, पृष्ठ १३।

ने अपनी पुस्तकों में शिव से आगे निम्न वंशावली दी है :—

शिव
|
विश्य
|
वैश्य
|
(वंश में)
|
सुदर्शन
|
धुरन्धर
|
समाधि (प्रपौत्र)
|
(वंश में)
मोहनदास
|
नेमिनाथ (प्रपौत्र)
|
वृन्द
|
गुरजर
|
(वंश में)
हीर
|
रंग
|
विशोक
|

मधु
|
महीधर
|
बल्लभ
|
अग्र

श्री डब्लू० क्रूक लिखित वंशावली [1] इस प्रकार है:—

शिव
|
विष्णुराज
|
सुदर्शन
|
धुरन्धर
|
समाधि
|
मोहनदास
|
नेमिनाथ
|
वृन्द
|
गुर्जर
|
हरिहर
|
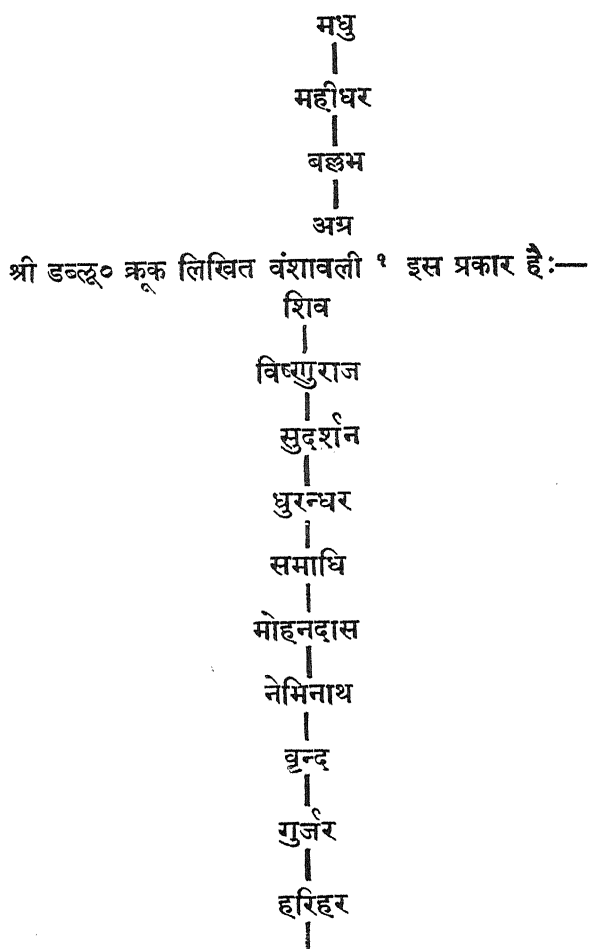
१—डब्लू० क्रूक—"ट्राइब्स ऐण्ड कास्ट्स आफ एन० डब्लू० पी० ऐण्ड अवध" भाग १, पृ० १४।

रंग
|
(पाँच पीढ़ी बाद)
अग्रसेन

शालग्राम कवि निम्न लिखित वंशावली [१] बतलाते हैं :—

शिव
|
महमान
|
विश्य
|
(वंश में)
सुदर्शन
|
धुरन्धर
|
धर्मसेन
|
समाधि
|
मोहनदास (प्रपौत्र)
|
नेमिनाथ
|
वृन्द
|
(वंश में)
गुर्जर
|
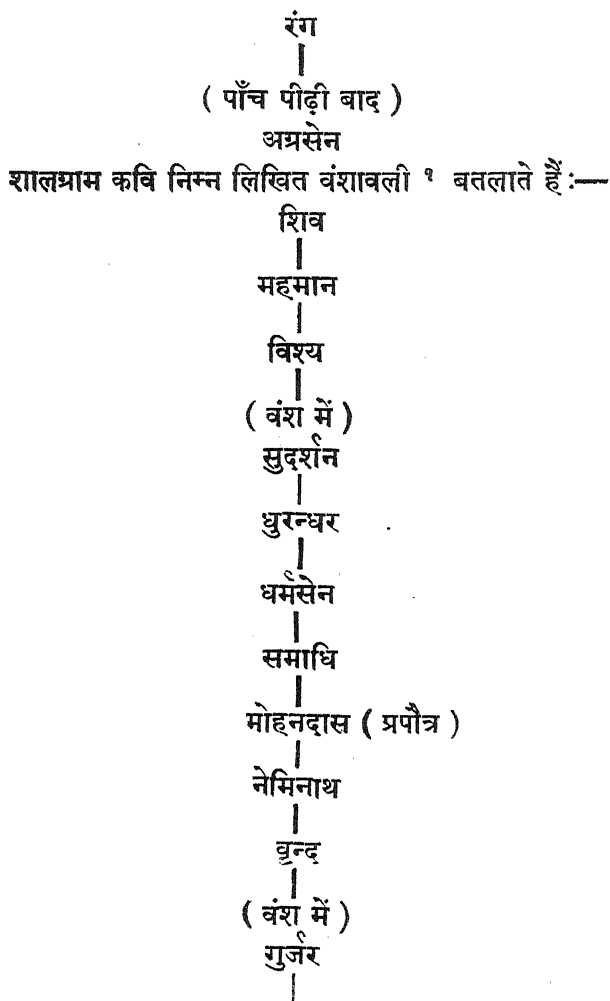
१—शालग्राम कवि—अग्रवाल वंश, पृष्ठ १ ।

(वंश में)
हीरक
|
रंग
|
विशोक
|
मधु
|
महीधर
|
बल्लभ
|
अग्रनाथ

जहाँ उपर्युक्त लेखकों ने शिव के वंशजों की वंशावली देकर बल्लभ के पुत्र को अग्रसेन, अग्रनाथ या अग्र बताया है, वहीं 'ब्राह्मणोत्पत्ति मार्तण्ड' के लेखक ने वंशावली की लम्बी तालिका की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं समझी और अग्र को शिव के भाई बल्लभ की सन्तान बता कर छुट्टी पा ली है।[1] इस प्रकार उपर्युक्त वंशावलियों के नाम एक दूसरे से भिन्न हैं। डा० सत्यकेतु के मतानुसार अग्रसेन सम्बन्धी जो दो प्राचीन पुस्तकें प्राप्य हैं, उनके प्रामाणिकता के अभाव की विवेचना पिछले प्रकरण में की जा चुकी है। फिर भी यदि थोड़ी देर के लिए उनका कुछ मूल्य समझ लिया जाय, तो हम देखते हैं कि उन दोनों में भी आपस में कई

१—श्रीविष्णु अग्रसेन वंश पुराण [भूतखंड] पृष्ठ ३ ।

स्थानों पर घोर मतभेद है और उन दोनों से भिन्न कई नाम अन्य तीन लेखकों की वंशावलियों में हैं जिनके कथन के आधार अज्ञात हैं।

ये वंशावलियाँ भलन्दन पुत्र वात्सप्रिय के पुत्र मांकील के वंशज धनपाल की संतान अग्रसेन या अग्रवालों को बताती हैं, किन्तु 'वर्ण विवेक चन्द्रिका' में लिखा है कि 'ब्रह्मा के उपदेश से भलन्दर (भलन्दन) हुए। उनकी स्त्री मरुत्वती थी। उससे वत्स-प्रीति (वात्सप्रिय) उत्पन्न हुए। उसके प्रांशु नामक पुत्र हुआ जिसके मोद, प्रमोद, मोदन, प्रमोदन, बाल और शंकुकरण, छः पुत्र हुए। प्रमोदन निस्सन्तान था, उसने अपनी स्त्री चन्द्रसेना के साथ बद्रिकाश्रम में तप किया। शिवजी ने उसको वर दिया और यज्ञ करने पर अग्निकुण्ड से अग्रवाल, खत्री और रौनियार नामक तीन पुत्र हुए'।[१] इस कथन के अनुसार अग्रवाल मांकील के वंशज न होकर उसके भाई प्रांशु के वंशज हुए। डाक्टर सत्यकेतु ने अपनी पुस्तक में भलन्दन पुत्र वात्सप्रिय के दो पुत्र मांकील और प्रांशु का उल्लेख किया है।[२]

जहाँ मत वैभिन्य के साथ-साथ उपर्युक्त लेखक समुदाय अग्र-सेन को वात्सप्रिय के दो भिन्न शाखाओं से बताते हैं वहीं अनेक लेखक एवं किंवदन्तियाँ उन्हें सूर्यवंशी बताने की चेष्टा करती हैं

१—वर्ण विवेक चन्द्रिका, पृष्ठ ११; ज्वालाप्रसाद मिश्र—जाति-भास्कर, पृष्ठ २६९–७०।

२—सत्यकेतु विद्यालंकार-अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास, पृष्ठ १०२–१०३।

और उनका सम्बन्ध इक्ष्वाकु वंश से जोड़ कर राजा मान्धाता का वंशज बताती हैं। पुराणों में मान्धाता के पुरुकुत्स, अम्बरीष और मुचकुन्द नामक तीन सन्तान कही गई हैं। इनमें अम्बरीष के वंश में अग्रसेन हुए ऐसा कहा जाता है।

सूर्यवंश

श्रीयुत नन्दकिशोरजी अग्रवाल चौधरी, अग्रसेन के पूर्वजों को इस प्रकार बताते हैं। [१]

अम्बरीष
|
धुमारिख
|
जमनारिख
|
भक
|
स्वत
|
मोहान
|
जलनगन्धा
|
तीमरिख
|
भ्रमसेन
|
धर्मसेन

१—श्री विष्णु अग्रसेन वंशपुराण (जीर्णोद्धार खंड) पृष्ठ २४।

अमरसेन
सदारिख
सलमरिख
जोनरिख
अनेनरिख
सङ्गमरिख
करोसरिख
वृहत
सिनरिख
मौनदत्त
मध्यमा सगर
करमदरिख
करोसियारिख
महरिख
हंसकारथ

|
ब्रहन्‌रिख
|
प्रकाश
|
नाश
|
मीररिख
|
वीरधर
|
अहमन्तरिख
|
श्यामदत्त
|
सौभाग्यदत्त
|
चूड़ामणि
|
पूरनाखद्
|
भईलिंग
|
गुजरादरिख
|
हरिदाज
|
धिराज
|
अङ्गदिवी
|
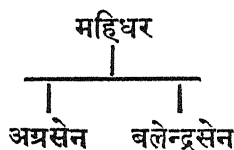
श्री विष्णु अग्रसेनवंश पुराण में कृष्ण कवि वर्णित एक वंशावली दी हुई है, उसमें भी अग्रसेन का सम्बन्ध सूर्य-वंशी मान्धाता पुत्र अम्बरीष से बताया गया है।[1]

अम्बरीष
(१० पीढ़ी बाद)
|
ब्रह्मसेन
|
प्रकाश
|
(२१ पीढ़ी बाद)
मैंन
|
(११ वीं पीढ़ी में)
श्याम
|
(आठवीं पीढ़ी में)
महीधर
|
अग्रसेन
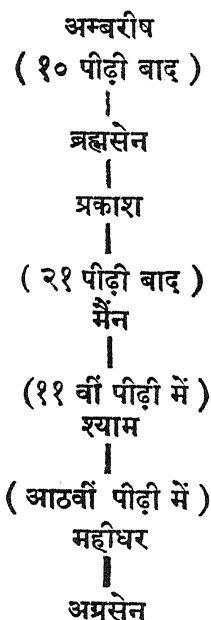
इन्दौर से श्री लछीराम पुत्र श्री शिवप्रताप ने 'राजा अग्रसेन

---

१ श्री विष्णु अग्रसेनवंश पुराण (भूतखण्ड) पृ० ७।

का जीवन चरित्र' नाम की एक पुस्तिका प्रकाशित की है। उसके सम्बन्ध में उनका कहना है कि अगरोहे के निकट स्थित जसपुरग्राम के भट्ट घनश्याम और तुलाराम के पास अग्रपुराण नामक एक प्राचीन ग्रन्थ है। उसी ग्रन्थ के आधार पर पुस्तक लिखी गई है।[1] इस पुस्तक में भी उपर्युक्त वंशावली दी गई है।

अग्रपुराण

चौथी वंशावली जिसमें अग्रसेन को अम्बरीष का वंशज कहा गया है, एक भाट कथित है। इस वंशावली के नाम बड़े ही विकृत रूप में दिए गए हैं। इसमें अमरीष करके दिया हुआ नाम सम्भवतः अम्बरीष का ही रूपान्तर है। उसके अनुसार वंशावली इस प्रकार है[2]

१—राजा अग्रसेन का जीवन चरित्र, पृष्ठ १३-१४।

२—श्री विष्णु अग्रसेनवंश पुराण (जीर्णोद्धार खण्ड) पृ० १६।

रतनपति
|
महीधर
|
अग्रसेन

डा० रामचन्द्र गुप्त ने एक और वंशावली दी है।[१]

मान्धाता
|
अम्बरीष
|
(वंश में)
ब्रह्मर्षि
|
प्रकाश
|
ताश
|
मकर
|
कन्द
|
मोहाल
|
जालन्ध
|
नग
|
केवल
|

१—डा० रामचन्द्रगुप्त–अग्रवंश, पृ० ३५।

ब्रह्मा
|
ब्रह्यु
|
मैन
|
मध्यमा
|
करम्भ
|
भूर
|
लोकेश
|
गह्दी
|
सूरन
|
समर्थ
|
सुतेज
|
नह्पंग
|
अजमन्त
|
श्याम
|
सुभग
|

बीमाकर
|
मनीमोहन
|
पूरणकर
|
वहीलोक
|
चूड़ामणि
|
गजराध
|
रंगाधि
|
स्वमेपामटल
|
मधु
|
श्राद्धि
|
अशेध
|
पेजस
|
डंडल
|
अङ्गसीस
|
अमानसीस
|
महीधर
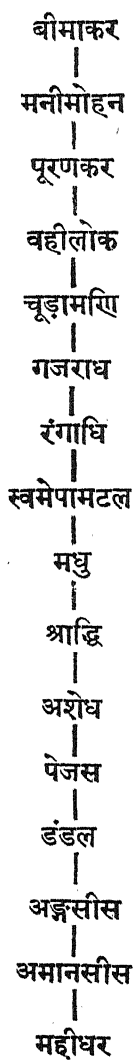
अग्रसेन, मनुध्वज, हेमल्ल, सिदिसेन, मुकुन्दी, तिलाधर, सुरपाल

'मुख़्तसर हालात अग्रसेन' के लेखक ने अग्रसेन की पूर्वज परम्परा देते हुए जो वंशावली दी है उसमें उसने अम्बरीष की सन्तान के नाम निम्नलिखित रूप में गिनाये हैं। [१]

धूमार्क, यमरक्षक, सदारक्षक, सुलभरक्षक, जीवन-रक्षक, अनन्त-रक्षक, सुमंगल रक्षक, कोष रक्षक, कर्मरक्षक, मर्णरक्ष, सहस्त्ररक्ष, ब्रह्मरक्ष, प्रकाश, नाश, मयंकुर, सोहान, चलंगद, निम्भ, परमसेन, धर्मसेन, अमरसेन, महिमन्त, सन्तमान, मधुमान, कषमंड, मयूर, भ्रमर, रहमत, श्याम, सोमाग, चूणामन, पूर्णकन्द, विहीलोक, गजराज, हरिन्द्र, दधिराज, रणगाधी, महीधर, अग्रसेन।

इन दो प्रकार के प्रसिद्ध पौराणिक सूर्य और चन्द्र वंशों से सम्बन्ध जोड़ने वाली वंशावलियों से भिन्न हिसार जिले के सेटिल-

अमीचन्द की वंशावलियां

मेन्ट आफिसर श्री अमीचन्द ने दो वंशावली अपनी रिपोर्टों में दिया है, जिसे श्री विष्णु अग्रसेनवंशपुराणकार ने अपनी पुस्तक में संकलित किया है। एक के अनुसार उसने अग्रसेन को सूर्यवंशी बताकर किन्हीं राजा वासुदेव से सम्बन्ध जोड़ने की चेष्टा की है।

१—अग्रवाल, वर्ष ४ खण्ड १ अङ्क ३ पृष्ठ ४२१; बालचन्द मोदी—अग्रवाल इतिहास-परिचय, पृष्ठ २०।

यह वंशावली [1] इस प्रकार है :—

वासुदेव
|
सुइसनर
|
सुघमदेव
|
कृष्णवर्मा
|
वीरवर्मा
|
रणधीरवर्मा
|
जगतवर्मा
|
नरेन्द्रवर्मा
|
रुद्रवर्मा
|
कृतवर्मा
|
आशाजीत
|
सुमेरुदेव
|
अग्र

श्री अमीचन्द ने जो दूसरी वंशावली दी है वह किन्हीं पं० किसनसहाय दादरीवाले के 'खुलासा तवारीख' के आधार पर है।

१—श्री विष्णु अग्रसेनवंश पुराण (भूतखण्ड), पृष्ठ ६४।

उसके अनुसार ब्रह्मा से चित्रगुप्त हुए। उनके वंश में रबरतन हुए। उन्होंने सूर्य की तपस्या की। उसके सदामान और सदामान के औधू हुए, जिसके वंश में अग्र हुए।[१]

श्री अमीचन्द प्रस्तुत दोनों वंशावलियाँ विचित्र हैं। पहले में सूर्यवंशी राजा वासुदेव का उल्लेख है। इस नाम का कोई सूर्यवंशी राजा पुराण में प्राप्य नहीं है। दूसरे में अग्रसेन को चित्रगुप्त का वंशज माना है। चित्रगुप्त के वंशज कायस्थ कहे जाते हैं पर इसके अनुसार अग्रवाल भी उनके वंशज हुए। इस प्रकार दोनों वंशावलियों में से किसी का ओर छोर नहीं है। अस्तु, केवल वैशालक वंश और मान्धाता वंश सम्बद्ध वंशावलियों पर ही विचार करना उचित होगा। क्योंकि दोनों ही वंश प्रख्यात पौराणिक वंश हैं।

पौराणिक वंशावली

पुराणों के अनुसार मनु के दस पुत्र और एक कन्या थी। प्राचीन राजवंशों का प्रादुर्भाव मनु की इन सन्तानों से माना गया है। उनके नाम इच्छ्वाकु, शर्याति, नाभाग, नैदष्ट, सुद्युम्न, नृग, निरिश्यन्ति, धृष्ट, करुष, पृषध्र हैं। बड़ा लड़का इच्छ्वाकु, अयोध्या में राज करता था। उसके दो पुत्र हुए—विकुक्षिशशाद और नेमि। विकुक्षिशशाद से सूर्यवंश का विकास हुआ, जिसमें मान्धाता पैदा हुए। दूसरे पुत्र नेमि से विदेह वंश चला जिसमें रामचन्द्र की पत्नी सीता का जन्म हुआ था। मनु पुत्र शर्याति ने

१—श्रीविष्णु अग्रसेनवंश पुराण (भूतखण्ड), पृष्ठ ६१।

आनर्त (काठियावाड़, द्वारिका) में अपना राज्य स्थापित किया। नाभाग से रथीतर वंश का विकास हुआ। नैदृष्ट से सुप्रसिद्ध वैशालक वंश का आरम्भ हुआ जो इसके राजा विशाल के नाम पर प्रसिद्ध हुई। नैदृष्ट के पुत्र का नाम नाभाग था। "मार्कण्डेय पुराण" के अनुसार उसने एक वैश्य कुमारी से विवाह कर लिया और स्वयं भी वैश्य होगया। उसका पुत्र भलनन्दन या भलन्दन हुआ। वह एक शक्तिशाली राजा था। उसका पुत्र वात्सप्रिय या वतप्रीत था। उसके बाद इस कुल में क्रम से प्रांशु, प्रमति, खनित्र, चाक्षुष, विविंशति, रम्भ, खनिनेत्र, करन्धन, वीत्त्वित, मरुत्त, नरिष्यन्त, दम, राज्यवर्धन, सुधृत, नर, केवल, विन्दुभान, वेनवान, बन्धु, तृणविन्दु, विशाल (जिसके नाम पर इस वंश का नाम वैशालक और राजधानी का नाम बैशाली पड़ा जो बिहार में थी), हेमचन्द्, धूमाक्ष, संयम, सहदेव, कुशाश्व, सोमदत्त, सुमति और जन्मेजय हुए। [१]

पुराणों में इस वंश की केवल इतनी ही वंशावली लिखी है। किन्तु डा० सत्यकेतु ने 'उरुचरितम्' की सहायता से इस वंश की एक नई शाखा का उल्लेख किया है। वे वात्सप्रिय के दो पुत्रों का उल्लेख करते हैं; मांकील और प्रांशु। [२] प्रांशु की वंशावली का

मांकील

१—विष्णुपुराण ४।१।१६–६१।

२—सत्यकेतु विद्यालङ्कार-अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास, पृष्ठ १०२, १०३, परिशिष्ट ७।

उल्लेख ऊपर हो चुका है। मांकील और उनके वंशजों का उल्लेख पुराणों में नहीं है। मांकील प्राचीन वैदिक साहित्य एवं संस्कृत साहित्य के एक प्रसिद्ध व्यक्ति हैं, किन्तु कहीं भी उनका सम्बन्ध वैशालक वंश से नहीं जोड़ा गया है। यह सम्भव नहीं कि ऐसे प्रसिद्ध व्यक्ति का सम्बन्ध किसी राजवंश से हो और उसका उल्लेख पुराण में न हो। पुराणों में प्रायः सर्वत्र जहाँ कहीं भी किसी प्रसिद्ध व्यक्ति का वर्णन आया है वहाँ उनकी सन्तति के नाम अवश्य दिये गए हैं, चाहे उनका कोई वर्णन न हो। ऐसी अवस्था में यह सम्भव नहीं कि मांकील यदि वैशालक वंश के होते तो उनका प्रांशु के साथ उल्लेख न होता।

डाक्टर सत्यकेतु ने उरुचरितम् के वंशावली की विवेचना करते हुए उसे पौराणिक अनुश्रुति के अनुकूल बताया है और लिखा है कि 'उरुचरितम्' में आए ब्रह्मा, विवस्वान, मनु, नेदिष्ट, नाभाग, भलन्दन और वात्सप्रिय के नाम पौराणिक वृत्तान्त के अनुकूल ही हैं। और आगे की विवेचना में जो कुछ कहा है उसका तात्पर्य यही है कि जब पूर्वोल्लिखित नाम पौराणिक वृत्तान्त के अनुकूल हैं तो 'उरुचरितम्' में उत्तरोल्लिखित नाम भी अवश्य पौराणिक अथवा प्रामाणिक होंगे।[१] किसी पुस्तक में कुछ प्रसिद्ध एवं प्रामाणिक नाम हों तो उसके अन्य नाम भी प्रामाणिक होंगे ही, यह तर्क शायद ही किसी विद्वान की समझ में न्यायोचित जान पड़े।

१—सत्यकेतु विद्यालङ्कार—अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास, पृष्ठ १०१, १०५।

शायद 'अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास' के विद्वान लेखक ने ब्रह्माण्ड पुराण अथवा मत्स्यपुराण में भलन्दन और वत्स के साथ मांकील का नाम वैश्य प्रवरों में उल्लिखित पाकर ही उन्हें वैशालक वंशीय बनाने की चेष्टा की है।

मांकील के बाद उरुचरितम् के आधार पर डा० सत्यकेतु धनपाल का उल्लेख करते हैं, किन्तु इन दो व्यक्तियों के बीच में कितनी पीढ़ियों का अन्तर था इसका कुछ ज्ञान नहीं है। साथ ही ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि इस वंशावली के किसी राजा के सम्बन्ध में कोई बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती, इस बात को डाक्टर सत्यकेतु भी मानते हैं।[१] रामायण, महाभारत आदि में वैशालक वंश का वर्णन आया है पर जिस शाखा का उल्लेख डा० सत्यकेतु ने किया है उसका उन ऐतिहासिक पुस्तकों में भी कहीं पता नहीं है। डाक्टर सत्यकेतु इस अभाव का समाधान यों करते हैं कि यह वंश वैश्यों का वंश था और पौराणिक साहित्य संकलनकर्ता ऐसे वंश का वर्णन करना अपनी प्रतिष्ठा से नीचे की बात समझते थे जो न तो ब्राह्मण ऋषियों का हो और न क्षत्रिय राजाओं का ही। प्रमाण में आप कहते हैं कि पौराणिक साहित्य में प्राचीन भारत के वार्ताशब्दोपजीवि गणों का कहीं उल्लेख नहीं है और न

पौराणिक उल्लेख का अभाव

१—सत्यकेतु विद्यालंकार—अग्रवाल जातिका प्राचीन इतिहास, पृष्ठ १०७।

उसमें गुप्त, वर्धन, नाग, आदि वैश्यों का वर्णन है। [१]

उपर्युक्त बातें लिखते हुए डाक्टर साहब ने इस बात की उपेक्षा कर दी है कि प्रायः पुराणकारों ने किसी ईसा-पश्चात् के शासक का उल्लेख किया ही नहीं है, इस कारण यदि उन्हें पुराणों में गुप्त और वर्धन वंश का वर्णन न मिले तो आश्चर्य ही क्या है? रही नागवंश की बात, सो उसका तो स्पष्ट उल्लेख विष्णुपुराण में है। [२] विष्णुपुराण विद्वत्जनों द्वारा बताये हुए पुराण-लक्षणों के अनुसार एक बहुत ही मान्य ग्रन्थ समझा जाता है। नागवंश का ही क्यों, उसमें तो शूद्र-जन्मा महापद्म के वंश का भी वर्णन बड़े विस्तार से दिया गया है। [३] ऐसी अवस्था में यह कल्पना नहीं की जा सकती कि पुराणकार एक ऐसे वंश की उपेक्षा कर देंगे जो शूद्र से उच्च हो। हमारे कथन का समाधान करते हुए डाक्टर सत्यकेतुजी ने हमें अवगत किया है कि "पुराणों में प्रायः मध्यदेश के राज्यों का इतिहास संग्रहीत है। पूर्व व पच्छिम के राज्यों का उल्लेख व वर्णन वहाँ प्रायः नहीं है। [४] हम डाक्टर साहब के इस कथन को स्वीकार करते हुए भी ध्यान दिलाना चाहते हैं कि किंवदन्तियों के अनुसार अग्रसेन का

१—सत्यकेतु विद्यालंकार–अग्रवाल जातिका प्राचीन इतिहास, पृष्ठ १०७।

२—विष्णुपुराण, ४।२४।८-१९।

३—विष्णुपुराण, ४।२४।२०-२४।

४—सत्यकेतु विद्यालंकार–प्रस्तुत पुस्तक की मूल पाण्डु लिपि पर नोट।

राज्य उत्तर में हिमालय, पूर्व और दक्षिण में गंगा, पच्छिम में यमुना से मारवाड़ तक विस्तृत था। यह भाग प्राचीन संस्कृत साहित्य में वर्णित मध्यदेश की सीमा से बाहर नहीं कहा जा सकता। इसलिए इस कल्पना पर विशेष कहने की आवश्यकता नहीं।

इससे अधिक निकट का पौराणिक सम्बन्ध तो 'वर्ण विवेक चन्द्रिका' के लेखक ने जोड़ने की चेष्टा की है। अर्थात् उसने अग्रवाल जाति का सम्बन्ध प्रांशु से स्थापित किया है। भलन्दन के वंश से सम्बन्ध जोड़ने के लिए मांकील की कल्पना की अपेक्षा यदि इस लेखक की तरह प्रांशु से सम्बन्ध जोड़ने की चेष्टा की गई होती तो शायद अधिक सफलता मिल सकती; लेकिन 'वर्ण विवेक चन्द्रिका' का लेखक भी स्वयं यहाँ आकर कल्पना के उलझन में पड़ गया है। उसने प्रांशु के छः लड़कों का उल्लेख जिस रूप में किया है वह पुराण में वर्णित नामों से सर्वथा भिन्न, अपने मन की खिचड़ी जान पड़ती है, और उसके कथन का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

वर्ण विवेक चन्द्रिका

अब सूर्यवंश की वंशावली पर दृष्टि डाली जाय तो पुराणों के अनुसार इच्छ्वाकु पुत्र विकुक्षिशशाद के वंशजों की वंशावली, जो सूर्यवंश के नाम से प्रख्यात है, वह मान्धाता तक निम्न अनुसार है।[1]

सूर्यवंश

१—विष्णुपुराण, ४।२।११-६२।

इक्ष्वाकु
|
विकुक्षि (उपनाम शशाद)
|
पुरंजय (उपनाम कुकुत्स्थ)
|
अनेना
|
विष्टरश्व
|
चान्द्र
|
युवनाश्व (प्रथम)
|
श्रावस्त
|
बृहद्श्व
|
कुवलयाश्व
|
दृढाश्व
|
हर्यश्व (प्रथम)
|
निकुम्भ
|
अमिताश्व
|
कृशाश्व
|
प्रसेनजित

|
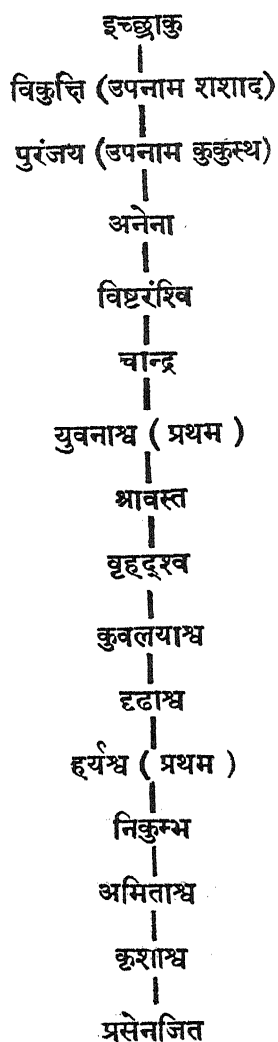
युवनाश्व (द्वितीय)

|

मान्धाता

जहाँ पुराणों में यह विश्वसनीय वंशावली प्राप्य है वहीं श्री नन्दकिशोरजी अग्रवाल चौधरी ने उससे स्वतन्त्र अपनी कल्पना इस प्रकार की है।[1]

1—श्री विष्णु अग्रसेनवंश पुराण (जीर्णोद्धार खण्ड), पृष्ठ २३।

हम देखते हैं कि इस वंशावली में पौराणिक वंशावली के दो तीन नामों के अतिरिक्त जो विकृत रूप में हैं, अन्य कोई नाम प्राप्य नहीं है। इसी प्रकार यदि हम अग्रसेन को सूर्यवंशी बताने वाली वंशावलियों का भी ध्यान पूर्वक परीक्षण करें तो ज्ञात होगा कि उन पाँचों वंशावलियों में अम्बरीष, महीधर और अग्रसेन के अतिरिक्त कोई दूसरा नाम एक दूसरे से नहीं मिलता। इतना विषम भेद स्वयं बता देता है कि उन सारी वंशावलियों का अस्तित्व केवल लेखकों की कल्पना में है। विष्णुपुराण में अम्ब-रीष के संतति के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से लिखा हुआ है कि "अम्बरीष के युवनाश्व नामक पुत्र हुआ। उसके हारीत हुआ

जिससे अंगिरा गोत्रीय हारीत गण हुए।[१] इसके आगे पुराण मौन है। जब अम्बरीष के वंशजों के ब्राह्मण होजाने की बात पुराण स्पष्ट स्वीकार करता है तो फिर समझ में नहीं आता कि किस आधार पर उनसे अग्रसेन का उद्भव जोड़ा जाता है ? इस प्रकार हमारा दृढ़ विश्वास है कि अग्रसेन से सम्बन्ध जोड़ी जाने वाली सारी वंशावलियाँ काल्पनिक हैं।

डा० सत्यकेतु की आपत्ति

डाक्टर सत्यकेतु जी ने हमारे इस विवेचन पर अपने विचार प्रगट करते हुए लिखा है कि "आपने इस अध्याय में अग्रवाल इतिहास के विविध लेखकों की दी हुई सब वंशावलियाँ दे दी हैं। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, इन पुस्तकों में अपनी वंशावली के लिये किसी आधार का, चाहे वह किसी कार्य-कुशल पण्डितजन की मनगढ़न्त रचना ही क्यों न हो, निर्देश नहीं किया गया है। अतः इनका इतने विस्तार से इस इतिहास में उल्लेख करना तथा उन्हें ऐतिहासिक विवेचन का विषय बनाना कुछ विशेष युक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होता।"[२] इस कथन के सम्बन्ध में केवल इतना ही निवेदन पर्याप्त होगा कि उन लेखकों ने बिना किसी छान-बीन के, बिना किसी कार्य कुशल पण्डित जन की अपेक्षा किए ही, जब अग्रसेन के अस्तित्व को जनश्रुत किंवदन्तियों

१—विष्णुपुराण, ४।३।२-३।

२—सत्यकेतु विद्यालंकार—प्रस्तुत पुस्तक के मूल पाण्डुलिपि पर नोट।

के आधार पर प्रामाणिक मान रक्खा है, तो उनसे उनकी वंशावली के प्रामाणिकता के लिए किसी निर्देश की आशा करना व्यर्थ है। यदि वे लेखक अपने कथन को अप्रामाणिक समझते तो उसका उल्लेख ही क्यों करते?

४

अग्रसेन

अग्रसेन का संदिग्ध अस्तित्व

पूर्व प्रकरण में हमने अग्रसेन के पूर्वजों की वंशावली की समीक्षा की। उससे अग्रसेन का अस्तित्व काफी सन्दिग्ध हो जाता है। इसलिये अब इस प्रकरण में स्वयं अग्रसेन और तत्सम्बन्धी किंवदन्तियों की भी समीक्षा करके देखने का यत्न किया जायगा कि इसमें कितना तत्व है।

अग्रसेन और उग्रसेन

इसके लिए सर्वप्रथम पुराणों की छानबीन इस दृष्टि से उचित होगी कि उनमें अग्रसेन नामक किसी राजा का उल्लेख है अथवा नहीं, फिर उस अग्रसेन की इस अग्रसेन से सामञ्जस्य खोजने की चेष्टा की जाय। अस्तु, पौराणिक वंशावलियों की छान-बीन करने पर उसमें कोई व्यक्ति अग्रसेन नाम का नहीं मिलता। हाँ, उग्रसेन नाम के कुछ व्यक्तियों का अस्तित्व अवश्य है। अग्रसेन और उग्रसेन स्पष्ट रूप से दो भिन्न नाम हैं। उग्रसेन नाम के राजाओं को, अग्रसेन सम्बन्धी कथन के ऐतिहा-

सिक विवेचन के लिए, आधार बनाना किसी इतिहासकार की दृष्टि में युक्तिसङ्गत नहीं जान पड़ता। फिर भी उग्रसेन और अग्रसेन के उच्चारण में इतना साम्य है कि भूल होने की सम्भावना हो सकती है। मुझसे पूर्व के अग्रवाल जाति के कतिपय इतिहास लेखकों ने अग्रसेन और उग्रसेन को एक में मिलाने और सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की है इसलिए प्रस्तुत विवेचन उचित जान पड़ता है।

पुराणों में निम्न उग्रसेनों का उल्लेख है:—

१—मथुरा के राजा, कंस के पिता, कृष्ण के नाना, अन्धक-विष्णि वंशज, उग्रसेन।

पौराणिक अग्रसेन

२—कुरु पुत्र परीक्षित (युधिष्ठिर के भतीजे नहीं, वरन् पूर्वज) के पुत्र उग्रसेन।

३—मिथिला नरेश महाराज जनक (सीता के पिता) के वंशज, जनक उग्रसेन।[1]

४—अर्जुन पुत्र परीक्षित (सुप्रसिद्ध हस्तिनापुर के शासक) के पुत्र उग्रसेन। सम्भवत: इन्हीं उग्रसेन के लिए श्री विष्णु अवसेन वंश पुराण के संग्रहकार ने लिखा है कि उग्रसेन नामक एक राजा का महाराज युधिष्ठिर से तेरहवीं पीढ़ी में इन्द्रप्रस्थ के राजसिंहासन पर बैठना पाया जाता है[2]। किन्तु युधिष्ठिर की

१—श्री जयचन्द विद्यालंकार-भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग १, पृष्ठ २२२, २८६।

२—श्री विष्णु अग्रसेन वंशपुराण (भूत खण्ड) पृष्ठ ८०।

तेरहवीं पीढ़ी में इस नाम के किसी भी व्यक्ति के होने का पुराणों में उल्लेख नहीं है।

'उरु चरितम्' में अग्रसेन और शूरसेन नामक दो भाइयों की सत्ता का उल्लेख मथुरा के समीपवर्ती प्रदेश में किया गया है।

अन्धकवृष्णिवंशीय उग्रसेन

डाक्टर सत्यकेतु इसी आधार को लेकर इन व्यक्तियों को तथा अन्धकविष्णिवंशी शूरसेन और उग्रसेन को एक मानने की कल्पना को सम्भाव्य समझते हैं। इसकी पुष्टि में वे दबी ज़बान से भारतेन्दु बाबू कथित कृष्ण के वैश्य होने का उल्लेख करते हैं[1]। श्रीयुत चन्द्रराज भण्डारी भी 'अग्रवाल जाति के इतिहास' में अन्धकविष्णि वंशज कृष्ण के नाना, कंस के पिता, उग्रसेन को अनुमान करते हैं कि "सम्भवतः वे ही अग्रवालों के पूर्वज अग्रसेन हों क्योंकि दोनों का विवाह नाग वंश में होना उल्लिखित है"[2]।

अन्धक-विष्णि वंश, चन्द्रवंश के यदु की शाखा है, जो अन्धक और विष्णि के वंशजों के रूप में इस प्रकार पुराणों में व्यक्त है :—[3]

१—सत्यकेतु विद्यालंकार—अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास पृ० २१०, २११।

२—भाग १, पृ० ३६, भाग २ पृष्ठ ६।

३—विष्णुपुराण ४।१४।१२-१६; २२, २७।

क्रोष्टा (यदुवंश में)
विष्णि (प्रथम)
अनभित्र
विष्णि (द्वितीय)
चित्ररथ
भजमान
विदूरथ
शूर
शमी
प्रतिक्षत्र
स्वायंभोज
हृदीक
देवगर्भ
शूरसेन
वासुदेव
+
कृष्ण
अन्धक
कुकुर
धृष्ट
कपोतरामा
विलोमा
अनु
आनक दुदुम्भि
अभिजित
पुनर्वसु
आहुक
देवक
देवकी (कन्या)
उग्रसेन
कंस
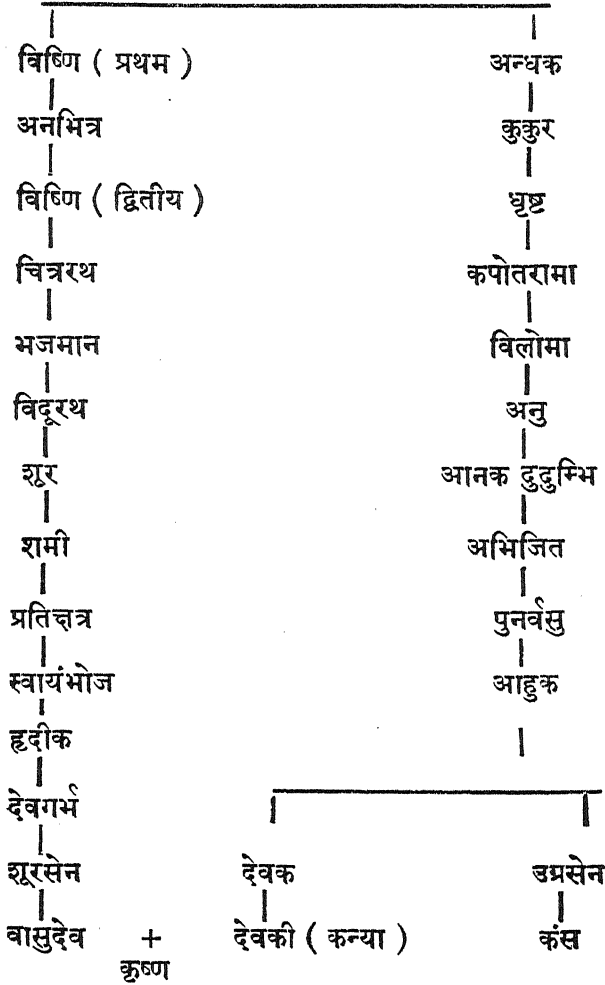
इस वंशावली के देखने से स्पष्ट जान पड़ता है कि शूरसेन और उग्रसेन में भाई का नाता नहीं है। वे दोनों आपस में समधी हैं। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त वंशावली 'उरु चरितम्' या अन्यत्र उल्लिखित अग्रसेन के पूर्वजों की वंशावली से भी एकदम भिन्न है। एक ओर वैशालक वंशीय अथवा मान्धाता वंशीय बताना और दूसरी ओर अन्धक-वृष्णि वंश से सम्बन्ध जोड़ना उपहासास्पद सा लगता है।

दूसरी बात, इस वंश के उग्रसेन के पुत्र का नाम कंस था जो महाक्रूर और अत्याचारी कहा गया है। उसको मारकर कृष्ण ने उग्रसेन को पुनः गद्दी पर बैठाया था और पश्चात् वे स्वयम् उनके उत्तराधिकारी हुए। कंस के साले जरासन्ध ने उन पर सत्रह बार चढ़ाई की। बार-बार की लड़ाई से उत्पीड़ित हो कृष्ण मथुरा छोड़ सपरिवार द्वारिका भाग गये और मथुरा का शासन जरासन्ध और उसके वंशजों के हाथ लगा। इस प्रकार उग्रसेन के वंश का अन्त होना हमें ज्ञात है। ऐसी अवस्था में उनके वंशज अग्रवाल नहीं हो सकते।

श्री अग्रवैश्य वंशानुकीर्तनम् में लिखा है कि अग्रसेन ने कलियुग के १०८ वें वर्ष तक राज्य किया।[1] महाभारत का युद्ध होते समय या अन्त होने पर कलियुग का आरम्भ हुआ, ऐसा माना जाता है। महाभारत के अन्त होने पर युधिष्ठिर हस्तिनापुर

१— सत्यकेतु विद्यालंकार—अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास पृष्ठ १११, १७५।

के राजा हुए। उनके बाद परीक्षित और फिर उनके बाद जन्मेजय गद्दी पर बैठे। राज्यावधि के परीक्षण से जान पड़ता है कि अग्रसेन के समकालीन जन्मेजय रहे होंगे। किन्तु उग्रसेन के दौहित्र कृष्ण युधिष्ठिर के समकालीन थे। इसके अनुसार ज्ञात होता है कि उग्रसेन का समय युधिष्ठिर से तीन पीढ़ी पहले रहा होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि उग्रसेन और अग्रसेन के समय के बीच छः पीढ़ी का अन्तर पड़ा। और उग्रसेन के पीछे अग्रसेन हुए होंगे।

अग्रवैश्यवंशानुकीर्तनम् और उरु चरितम् की भाँति ही 'कंसासुर वध' नामक एक प्राचीन पुस्तक अजयगढ़ के श्री प्रेमसुख शुक्ल के पास बताई जाती है। उसके आधारपर 'वैश्य अग्रवाल इतिहास' के लेखक ने लिखा है कि महाराज अग्रसेन के परपोते (प्रपौत्र) रणवीर ने मथुरा के राजा कंस के साथ युद्ध किया था[1]। कंस-रणवीर-युद्ध की कथा श्रीमद्भागवत, हरिविजय अथवा महाभारत में कहीं नहीं है। जिस प्रकार 'उरु चरितम्' और 'अग्रवैश्य वंशानुकीर्तनम्' की कथा अन्यत्र अप्राप्य होने पर भी डाक्टर सत्यकेतु उसे विश्वसनीय समझते हैं उसी प्रकार यदि यह भी थोड़ी देर के लिए विश्वसनीय मान लिया जाय तो इसके अनुसार अर्थ यह होगा कि अग्रसेन कंस के पिता उग्रसेन से दो पीढ़ी पूर्व रहे होंगे। इस प्रकार अग्रसेन और उग्रसेन के

१—अग्रवाल वर्ष ४ खण्ड ३ सं० २ पृ० ४१६; बालचन्द मोदी-अग्रवाल इतिहास परिचय, पृष्ठ १५।

समय में महान् अन्तर हो जाता है और कथित प्राचीन ग्रन्थों का कथन आपस में टकरा कर अपना कल्पित अस्तित्व व्यक्त कर देता है।

अन्य कई लेखकों ने भी अग्रसेन का समय निर्धारित करने की चेष्टा की है। "अग्रवाल वंश कौमुदी" में लिखा है कि अग्रसेन का जन्म त्रेतायुग के प्रथम चरण में हुआ था [1]। जाति भास्कर में इस सम्बन्ध में एक दोहा लिखा हुआ है :—

अग्रसेनकाल त्रेतायुग

बद मिगसर शनि पञ्चमी, त्रेता पहले चरण।
अग्रवाल उत्पन्न भए, सुन भाखी शिवकरण॥

शिवकर्ण महाशय ने यह बात कहा सुनी, कैसे सुनी यह हम नहीं जानते। केवल इतना कह सकते हैं कि उनके कथन से घोर निश्चिता टपकती है और अग्रसेन रामचन्द्र के काल में जा पहुँचते हैं। इस समय के समर्थन के लिए एक कल्पना की सृष्टि की गई है। कहा गया है कि जब परशुराम जनकपुरी जारहे थे तो रास्ते में अग्रसेन की राजधानी से गुजरे। वहाँ अग्रसेन और परशुराम में कहासुनी और गर्मागर्मी हुई [2]। क्षत्रिय वंश नाशक परशुराम ने उस क्षत्रिय शासक की बातों को चुपचाप सहन कर लिया और केवल निःसन्तान होने का शाप देकर अपना क्रोध

१— बालचन्द मोदी-अग्रवाल इतिहास परिचय, पृ० १५।

२— श्रीविष्णु अग्रसेन वंश पुराण (भूत खण्ड), पृष्ठ १२।

शान्त किया [१]। परशुराम के स्वभाव से परिचित व्यक्ति के लिए यह कथन निरी कल्पना और आठवें आश्चर्य सा लगेगा। महान् आश्चर्य है कि परशुरामने अग्रसेन का वध नहीं किया। यदि इस कथन को सत्य मान लें तो निश्चय कहना पड़ेगा कि अग्रसेन का व्यक्तित्व महान् था और उनका वर्णन पुराणों में अवश्य होना चाहिए। और नहीं तो कम से कम इस कारण तो होना ही चाहिए कि राम की भाँति अग्रसेन के सामने भी परशुराम की कुछ न चल सकी। जब पुराणों में इतना तक लिखा है कि राजा अश्मक के पुत्र मूलक परशुराम की डर से रनिवास में जा छिपे और उनकी रक्षा वस्त्रहीना स्त्रियों ने की [२] तो यहाँ तो

१—कुछ स्थानों पर इस किंवदन्ती का रूप इस प्रकार दिया हुआ है—"एक समय महाराज अग्रसेन शिकार को जाते थे, मार्ग में परशुराम जी मिलगए, महाराज से शिकार की दौड़धूप में भगवान परशुराम के प्रति समुचित अभिवादन में कुछ त्रुटि होगई, इस मर्यादोल्लंघन से असन्तुष्ट होकर निःसन्तान होने का शाप दिया। [अग्रवाल (देहली) वर्ष १ से अग्रवाल हितैषी (बरेली) वर्ष ५ अंक १ पृष्ठ ७ पर उद्धृत] एक दूसरी किंवदन्ती के अनुसार क्षत्रियों के विनाश का संकल्प कर परशुराम ने जब देशाटन आरम्भ किया। तो उन्होंने अग्रसेन से कहा कि तुम क्षात्र धर्म त्याग करो अन्यथा युद्ध करो। इसपर अग्रसेन ने युद्ध का चैलेन्ज स्वीकार किया तब परशुराम ने क्रोधित होकर श्राप दिया कि जा तेरे कोई सन्तान न होगी। (छीतर मल गर्ग-अग्र-वंश हितैषी।) इन किंवदन्तियों में भी यही ध्वनि है।

२—विष्णुपुराण, ४।४।७३-७४।

परशुराम के दुबदू बातों के कारण उनका नाम विशेष रूप में होना चाहिए था, पर नहीं है !

त्रेता वाली बात शायद किसी अन्य लेखक को मान्य नहीं है। 'अग्रवाल जाति के प्रामाणिक इतिहास' के लेखक उस तिथि को ठीक मानते हुए भी अग्रसेन को द्वापर में घसीट लाते हैं [१]। और डाक्टर सत्यकेतु उन्हें उनसे भी पीछे, कलि में ला पटकते हैं।

द्वापर या कलि

उनका कथन है कि शिवकर्ण ने भूल से पुरानी अनुश्रुति में कलि को बदल कर त्रेता कर दिया होगा [२]। अस्तु, यदि शिवकर्ण की भूल मान भी लें तो आज भी कलियुग का प्रथम चरण कहा जाता है, फिर पिछले पाँच हज़ार वर्ष में अग्रसेन कब हुए यह अज्ञात ही रह जाता है।

श्री० अनूपसिंह राजवंशी ने बड़ी निश्चिन्तता के साथ लिखा है कि अग्रसेन के समय युधिष्ठिर महाराज को १५५६ वर्ष बीत चुके थे [३]। इस कथन के लिए भी प्रमाण का अभाव है। श्री अग्रवैश्यवंशानुकीर्तनम् या 'उरुचरितम्' के अग्रसेन का समय यह हो यह असम्भव है। श्री० अनूपसिंह अग्रसेन का समय 'श्री अग्र-

अन्य धारणायें

१—गुलाबचन्द एरण-अग्रवाल जाति का प्रामाणिक इतिहास पृष्ठ १८।

२—सत्यकेतु विद्यालंकार अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास पृ० ११३।

३—अग्रवाल वर्ष ४, खंड ३ अंक २ पृ० ४१६; बालचन्द मोदी—अग्रवाल इतिहास परिचय पृ० ८५।

वैश्य वंशानुकीर्तनम्' से केवल १४४८ वर्ष पीछे बताते हैं। 'मुख्त-सर हालात अग्रसेन' के लेखक का कहना है कि अग्रसेन आज (सन् १९१०) से ७४३७ वर्ष पूर्व हुआ था अर्थात् आज से ७४६९ वर्ष पूर्व हुआ था [१]। विज्ञ ज्योतिषियों की गणनानुसार कलियुग का आरम्भ ३१०१ वर्ष ई० पू० हुआ था [२]। इसके अनुसार अग्रसेन का समय ७४६९-(३१०१ + १९४२) = २४२६ वर्ष कलियुग पूर्व हुआ।

श्रीयुत रामचन्द्र गुप्त तो इससे भी आगे बढ़े हुए हैं। उनके कहने के अनुसार अग्रसेन का जन्म आर्य संवत् १९७२९४१५७२ में हुआ था [३]। और श्री० प्रभुनाथप्रसाद बी. ए. उनका जन्म आर्य संवत् १४७२८४१९७२ में बताते हैं [४]। श्री० लेखराम लिखित 'सृष्टि के इतिहास' के अनुसार आज आर्य संवत् १९६०८५३०४० है। इसके अनुसार श्रीरामचन्द्रगुप्त कथित समय अभी १२०८८५३२ वर्ष बाद आवेगा और श्री० प्रभुनाथजी कथित समय आज से ४९८०१२०६८ वर्ष पूर्व रहा होगा। इस प्रकार अग्रसेन के समय के सम्बन्ध में लोगों की जितनी भी कल्पनाएँ हैं उनका सम्बन्ध कंस के पिता उग्रसेन के साथ क्या, किसी अन्य उग्रसेन से भी नहीं जोड़ा जा सकता। किसी

१—अग्रवाल, वर्ष ४, खण्ड ३, अंक २, पृ० ४१६।

२—विश्वेश्वरनाथ रेउ-भारत के प्राचीन राज वंश भाग २ पृ० ३

३—अग्रवंश पृ० ३८।

४—अग्रवाल वर्ष ३, खण्ड २, संख्या ५, पृ० ७६७।

अस्तित्वपूर्ण व्यक्ति के समय निर्धारण में इस प्रकार की अत्युक्ति अथवा अटकलबाजी से काम नहीं चला करता। इससे तो अग्रसेन का अस्तित्व और भी सन्दिग्ध हो जाता है।

जब अग्रसेन का समय निर्धारित नहीं किया जा सकता और उनका सम्बन्ध मथुरा के उग्रसेन से नहीं जोड़ा जा सकता तो हमें अन्य उग्रसेनों के सम्बन्ध में प्राप्य तथ्यों पर भी अग्रसेन की दृष्टि से विचार कर लेना उचित होगा।

मिथिला के जनक उग्रसेन महाराज रामचन्द्र के स्वसुर राजा जनक (सीरध्वज) की २०वीं पीढ़ी में कहे जाते हैं। इनका

जनक उग्रसेन

परशुराम से भेंट होना अथवा कलियुग के १०८ वर्ष बाद होना या कलियुग से २४२५ वर्ष पूर्व होना, ऐसी बातें हैं जो इन पर लागू नहीं होतीं। इसके अतिरिक्त पुराणों में इन्हें केवल मिथिला का राजा बताया गया है और उनके किसी ऐसे वैभव या प्रभुत्व का उल्लेख प्राप्य नहीं है जिससे मिथिला त्याग पञ्जाब जाने का प्रमाण मिल सके। अस्तु, इस उग्रसेन के अग्रसेन होने की कल्पना नहीं की जा सकती।

कुरुवंशी दोनों उग्रसेन में एक तो कुरु के पौत्र उग्रसेन बताए जाते हैं जो युधिष्ठिर से १७ पीढ़ी पूर्व हुए थे। पुराण में इनका

कुरुवंशी उग्रसेन

उल्लेख मात्र हुआ है, किन्तु इनका अस्तित्व सन्दिग्ध जान पड़ता है। कुरु पुत्र परीक्षित के जिन ४ पुत्रों का उल्लेख विष्णुपुराण ने

किया है उन्हीं चार नामों को उसने अर्जुन पुत्र परीक्षित के पुत्रों के लिए भी दुहराया है।[1] कुरु पुत्र परीक्षित के राज्यारूढ़ होने का प्रमाण नहीं मिलता। उनके भाई जह्नु हस्तिनापुर की गद्दी पर बैठे थे। उनसे जो वंश चला उसमें युधिष्ठिर आदि हुए। इनके दूसरे भाई सुधन की पूर्ण वंशावली पुराणों में दी गई है और तीसरे भाई निषेध के विषय में भी उल्लेख प्राप्य है। पर परीक्षित के सम्बन्ध में न तो कोई संकेत है न उनकी वंशावली पुराणों में है। केवल उनके ४ पुत्रों का उल्लेख है जो मुझे ऐसा लगता है कि अर्जुन पुत्र परीक्षित की सन्तान का नाम सादृश नाम परीक्षित के कारण भ्रम से लिखा गया है। जो भी हो इनको अग्रसेन मानने का तुक नहीं मिलता। इन परीक्षित के विषय में विस्तारपूर्ण विवरण पुराणों में न होना यह बताता है कि उग्रसेन या तो निःसन्तान रहे होंगे या उनकी सन्तति अयोग्य रही होगी। परन्तु यह स्पष्ट है कि कथित अग्रसेन के वंशज अयोग्य नहीं कहे जाते।

अर्जुन पौत्र उग्रसेन

अर्जुन पौत्र उग्रसेन का अस्तित्व अधिक प्रामाणिक है। उनके भाई जन्मेजय पुराण के प्रख्यात व्यक्ति हैं। उन्होंने नाग जाति का प्रचण्ड रूप से संहार किया था और अपने पिता परीक्षित का बदला चुकाकर कुछ दिनों तक अपनी राजधानी तक्ष-शिला बना रक्खा

1—विष्णुपुराण ४।२०।१, ४।२१।२।

था [१]। ऊपर हम कह चुके हैं कि वे अग्रवैश्य वंशानुकीर्तनम् के अनुसार अग्रसेन के समकालीन होते हैं। इस कारण सुगमता से कल्पना की जा सकती है कि इन्हींके भाई उग्रसेन बाद में अग्रसेन बन गये होंगे। यह कल्पना यों भी सम्भव है कि हस्तिनापुर अगरोहा के निकट ही है साथ ही वह तक्ष-शिला से भी बहुत दूर नहीं है। किन्तु जहाँ पौराणिक आधार की यह कल्पना उग्रसेन को अग्रसेन के निकट ले जाती है वहीं किंवदन्तियों में उल्लिखित वंशावली उन्हें इस वंश से बहुत दूर ले जा पटकती है। यदि इस वंश का तनिक भी सम्बन्ध होता तो सम्भवतः अनुश्रुतियों के कल्पनाकारों को स्वतंत्र वंशावली की कल्पना न करनी पड़ती।

इस प्रकार पौराणिक उग्रसेन और किंवदन्तियों के अग्रसेन का समन्वय करना सम्भव नहीं है। यह एक ऐसी गुत्थी है जो कभी भी सुलझाई नहीं जा सकती। यदि अग्रसेन के पौराणिक अस्तित्व की तनिक भी सम्भावना होती तो सम्भव है इसका समन्वय सहज होता।

ऐतिहासिक उग्रसेन

अब यदि पुराणों को छोड़कर अन्य ऐतिहासिक साधनों में अग्रसेन की खोज की जाय तो वहाँ भी अबतक के प्राप्य इतिहास में किसी भी अग्रसेन का पता न होकर, चार उग्रसेनों का ही पता मिलता है।

---

१ — जयचन्द विद्यालंकार–भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ० २८५–२८६।

१—चाम्पेय जातक नामक बौद्ध ग्रन्थ में काशी के राजा उग्रसेन का उल्लेख है। उनका समय लगभग ७ वीं शताब्दी ईसा पूर्व अनुमान किया जाता है। तत्कालीन अंग और मगध के बीच में चम्पा नदी पड़ती थी। उस नदी के कच्छ में एक नागभवन था और नाग राजा चाम्पेय राज्य करता था। उसके सम्बन्ध में लिखा हुआ है कि उसे अपनी सब लक्ष्मी काशी के राजा को दे देनी पड़ी [१]। किंवदन्ती में आये हुए राजा अग्रसेन के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उन्होंने चम्पावती की राज-कन्या से विवाह किया था। उनके नाग-कन्या से विवाह करने की बात भी कही जाती है। चम्पावती आधुनिक भागलपुर का नाम बताया जाता है, जहाँ चम्पा नाला नाम की एक नदी आज भी बहती है। इन बातों की जहाँ सङ्गति बैठाई जा सकती है वहीं अग्रसेन के अगरोहा निवास की बात इसमें बाधक जान पड़ती है। अन्य बातों से भी इसका साम्य नहीं है। इसलिए इन दोनों को एक मानने की कल्पना सङ्गत-पूर्ण न होगी।

काशिराज उग्रसेन

२—चौथी शताब्दी ईसा पूर्व में मगध के अन्तिम शिशुनाग-वंशी शासक का उत्तराधिकारी महापद्मनन्द हुआ। उसका दूसरा नाम उग्रसेन भी था। पुराणों के अनुसार वह महानन्दी का ही शूद्रा से जन्मा बेटा था। जैन अनुश्रुति यह है कि वह एक नाई

महापद्मनन्द

१—जयचन्द विद्यालंकार-भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ० ३१८-३१९।

का बेटा था। यूनानी लेखक ने लिखा है कि वह एक नाई था किन्तु रानी उस पर आसक्त होगई थी और धीरे-धीरे वह राजकुमारों का अभिभावक बनकर अन्त में उन्हें मारकर स्वयं राजा बन बैठा था[१]। इसपर कुछ कहना ही व्यर्थ है। यह मगध का शासक था। पञ्जाब की ओर उसके बढ़ने का कोई उल्लेख प्राप्य नहीं और सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस शूद्र अथवा शूद्रजन्मा को अग्रसेन से मिलाना, अग्रवाल समाज की दृष्टि से बहुत बड़ी धृष्टता होगी।

३—श्री विष्णु अग्रसेन वंश पुराणकार ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि अग्रसेन नाम का एक राजा आबू के परमार वंश में हुआ था[२]। इस कथन की पुष्टि किसी भी ऐतिहासिक पुस्तक से नहीं होती। आबू के परमार वंश का अस्तित्व ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में प्राप्य है न कि पहली। पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ ने बड़े परिश्रम से 'प्राचीन भारत का राजवंश' नाम से एक परिचयात्मक इतिहास लिखा है। उसमें परमार वंश पर विस्तृत खोज की गई है, किन्तु उन्होंने किसी उग्रसेन या अग्रसेन का उल्लेख नहीं किया है।[३] उस वंश की वंशावली देखने से पता लगता है कि कोई भी उस वंश में ऐसा नहीं हुआ जिसके

परमार वंशीय उग्रसेन

१—जयचन्द विद्यालंकार-भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ० ५२५-५२६।

२—श्रीविष्णु अग्रसेन वंश पुराण (भूतखण्ड), पृ० ८०।

३—प्राचीन भारत का राजवंश—भाग १, पृ० ६८-१८०।

नाम में 'सेन' लगा हो। इसलिए इस पर कुछ कहना व्यर्थ जान पड़ता है। हाँ, कुछ तुकों की कल्पना अवश्य होती है। कुछ लेखकों ने अग्रसेन की राजधानी का नाम चन्द्रावती, चम्पावती और चम्पा नगरी लिखा है। आबू के परमारों की भी राजधानी चन्द्रावती थी।

चौथे उग्रसेन का उल्लेख समुद्रगुप्त (३२६ से ३७५ ईसा) के प्रयाग अभिलेख में हुआ है। वह पल्लक नगर का शासक था।

पल्लक उग्रसेन

पल्लक नगर पल्लव शासकों की राजधानी थी ऐसा उल्लेख कई शिलालेखों में प्राप्य है। यह स्थान दक्षिणी कृष्णा जिले में बताया जाता है। समुद्रगुप्त ने इसे जीतकर अपने आधीन करलिया था। इससे अधिक इनके सम्बन्ध में विवरण प्राप्त नहीं है। श्री विष्णु अग्रसेन पुराणकार का इनके सम्बन्ध में कहना है कि "वह कावेरी-तट पर था। और भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी ने लिखा है कि महाराज अग्रसेन के पूर्वजों ने कावेरी के तट पर मन्दिर बनवाये थे। इस बात को देखते हुए पल्लव-राज उग्रसेन की तरफ ध्यान देना ही पड़ता है। मैं ठीक नहीं कह सकता कि जिस राजा अग्रसेन से अग्रवाल जाति अपना निकास बताती है ये वह हो सकते हैं या नहीं किन्तु मेरा अनुमान है कि पल्लव नरेश उग्रसेन का औरों की अपेक्षा अग्रवालों से अधिक सम्बन्ध है।"[२४] इस लेखक का अनुमान कहाँ तक सत्य है इसका निर्णय करना मेरी

२४—श्री विष्णु अग्रसेन वंश पुराण (भूतखण्ड) पृ० ८०।

बुद्धि के बाहर है। समुद्रगुप्त का सामन्त उग्रसेन, दक्षिण का निवासी, जहाँ आज भी कोई व्यक्ति अपने को अग्रवाल कहने वाला नहीं है, किस प्रकार अगरोहा का प्रतापी शासक हो सकता है, मेरी समझ में नहीं आता।

इस प्रकार की विवेचना से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अग्रसेन तथा पौराणिक एवं ऐतिहासिक उग्रसेन एक व्यक्ति नहीं हैं। किन्तु इतने से ही अग्रसेन को कल्पित सृष्टि मान लेना किसी को भी स्वीकार न होगा। अतः यदि किंवदन्तियों के अग्रसेन पर दृष्टि डाली जाय तो ज्ञात होगा कि कुछ लोग महीधर को उनका पिता बताते नज़र आते हैं और कुछ ससुर कहते हैं, दूसरी ओर कुछ लोग धनपाल को ससुर कहते हैं और कुछ लोग उन्हें अग्रसेन के पूर्व पुरुष के आसन पर जा बैठाते हैं। ऐसी वैषम्यपूर्ण कल्पनाओं को देखकर विश्वास करना पड़ता है कि अग्रसेन की सृष्टि भाट लोगों के मस्तिष्क में हुई है और उन लोगोंने उनके पूवजों को भानमती के कुनबे की तरह जोड़कर प्रतिष्ठित किया है। इसमें कितनी ऐतिहासिकता है यह कहना कठिन है। जबतक अग्रसेन के अस्तित्वको व्यक्त करने वाले प्रमाण न मिल जाँय, उनका अस्तित्व सन्दिग्ध ही माना जाना चाहिए।

वैषम्यपूर्ण कल्पनायें

सम्भव है मेरे इस कथन में पाठकों का पाश्चात्य विद्वानों की तरह भारत के प्रत्येक जनश्रुत-व्यक्ति का काल्पनिक कहने की प्रवृत्ति की पुनरावृत्ति जान पड़े। इसलिए यह स्पष्ट कर देना

उचित होगा कि अनुश्रुतियों को शत-प्रतिशत इतिहास नहीं माना जा सकता। हाँ, यह स्वीकार किया जा सकता है कि उसमें कुछ न कुछ ऐतिहासिक तथ्य अवश्य रहता है, जो अधिकांशतः कल्पनाओं से इतना आवृत रहता है कि उसमें से सत्य तथ्य निकालना असम्भव सा होता है। ऐसी अवस्था में केवल किंवदन्तियों और अनुश्रुतियों के आधार पर अग्रसेन का अस्तित्व सहसा स्वीकार कर लेना किसी भी मुक्त विचार के इतिहासकार के लिए कठिन है।

अनुश्रुतियों का मूल्य

कोरे काल्पनिक अनुमानों के आधार पर अग्रवाल जाति अथवा किसी भी जाति के विकास का इतिहास तैय्यार करना असम्भव है। किसी भी प्रामाणिक इतिहास के लिए तथ्यों की आवश्यकता हुआ करती है और इन अनुश्रुतियों में उसका अभाव है।

भारतवर्ष की जाति व्यवस्था एक नियम-बद्ध संस्था है। उसके किसी भी जाति के स्वतंत्र विकाश की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए आवश्यक है कि संपूर्ण पहले भारत की जातियों के विकास के क्रम पर एक दृष्टि डाली जाय। किसी जाति के विकास के खोज की चेष्टा आगामी पृष्ठों में इसी आधार पर अग्रवाल-जाति के विकास के इतिहास का विवेचन किया जायगा।

जाति-नियमवद्ध संस्था

उत्तरार्द्ध

१

जाति

भारतवर्ष के इतिहास का आरम्भ आर्यों के उत्कर्ष से होता है। अनेक विद्वानों का मत है कि वे लोग विदेशी थे और विजेता होकर सप्तसिन्धु देश में आए। कब आए इस विषय पर भी विद्वानों में मतभेद है। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने अपनी 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज़' और 'ओरायन' नामी पुस्तकों में इनके आगमन का समय लगभग ६००० वर्ष विक्रमीय पूर्व माना है। उनके मतानुसार आर्य लोग सबसे पहले उत्तरी ध्रुव के निवासी थे। हिन्दू शास्त्रों में लिखा है कि देवताओं के दिन और रात छः-छः महीने के होते हैं। यह बात उत्तरी ध्रुव के लिए आज भी घटित है। आइसलैण्ड नामक द्वीप में भी यही दशा है। जब तक सूर्य उत्तरायण रहते हैं तब तक वहाँ बराबर दिन रहता है और दक्षिणायण सूर्य में छः मास तक रात बनी रहती है। इस प्रकार ध्रुव प्रदेश में, वर्ष में एक दिन और एक ही रात होती है। हिन्दू-शास्त्र देवताओं का यही 'दिन रात'

आर्य-विदेशी

मानते हैं। इससे यह ध्वनि निकलती है कि आदिम आर्य लोग ध्रुव में रहते थे और वहीं से चलकर वे पूर्वी रूस, मध्य एशिया तथा योरोप में फैले और भारत आए।

दूसरी ओर कतिपय विद्वान् यह मानते हैं कि आर्य लोग विदेशी नहीं हैं और उनकी उत्पत्ति इसी भारत-भूमि पर सरस्वती नदी के प्रान्त में हुई। वहीं प्रकृति ने जीव सृष्टि का कार्य आरम्भ किया। प्रकृति के निरन्तर उद्योग के पश्चात् जो मानव सृष्टि हुई, वे ही मानव आर्य थे। रावबहादुर नारायण-भवन राव पावगी ने 'दी आर्यवर्तिक होम एण्ड दि आर्यन क्रेडिल इन दि सप्तसिन्धूज़', डाक्टर ए० सी० दास ने 'ऋग्वेदिक कल्चर' और श्रीसम्पूर्णानन्द ने 'आर्यों का आदिम देश' नाम्नी पुस्तकों में इस मतका विस्तार-पूर्वक प्रतिपादन किया है। इन दोनों मतों के विद्वान् एक मत होकर ऋग्वेद को आर्यों का आदिम ग्रन्थ मानते हैं और उसीके आधार पर अपने-अपने मत की पुष्टि करने की चेष्टा करते हैं।

आर्य-सरस्वती प्रदेश के निवासी

ऋग्वेद में प्रयुक्त 'दास' और 'दस्यु' शब्द को लेकर भिन्न-भिन्न मत प्रकट किए गए हैं। आर्यों को विदेशी मानने वाले विद्वानों का कहना है कि जब आर्य लोग यहाँ आए तो यहाँ के आदिम निवासियों ने उनका सैकड़ों वर्ष तक दल बाँधकर सामना किया इस कारण आर्य लोगों को आगे बढ़ने में काफी

'दास' और 'दस्यु'

कठिनाई हुई। आगे बढ़ने की प्रगति इतनी धीमी रही कि पंजाब में केवल सरस्वती नदी तक पहुँचने में लगभग डेढ़ हज़ार वर्ष लग गए। इस संघर्ष के कारण स्वाभाविक था कि आर्य आदिम निवासियों से घृणा करें और अलग रहें। इसके अतिरिक्त दोनों समुदायों की रहन सहन, सभ्यता आदि सभी बातों में महान अन्तर रहा होगा इसलिए आर्यों ने यहाँ के निवासियों से अपने को अलग रक्खा और उन्हें 'दस्यु' अथवा 'दास' नाम से पुकारना आरम्भ किया। दूसरी ओर आर्यों को भारतीय मानने वाले विद्वानों का कहना है कि 'दास' और 'दस्यु' शब्द यज्ञादि क्रियाओं को न करने वाले और उसमें विघ्न डालने वाले आर्यों के लिए प्रयुक्त हुआ है और उन्हें ही अनार्य भी सम्बोधित किया गया है। वस्तुतः तथ्य जो भी हो हमें इससे प्रयोजन नहीं। दोनों मत के विद्वानों के कथन से स्पष्टतः समाज में आर्य और अनार्य नामक दो विभाग का ज्ञान होता है।

आर्यों और अनार्यों का यह भेद ही वर्ण-भेद का आदिम रूप है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में एक भी वाक्य ऐसा नहीं मिलता

वर्ण भेद

जिससे प्रकट होता हो कि उस समय उनके समाज में जाति भेद सरीखा कोई भेद वर्तमान था। यदि उस समय जाति भेद वर्तमान होता तो यह सम्भव नहीं कि ऋग्वेद की दस हज़ार ऋचाओं में समाज के इस प्रधान सिद्धान्त का कहीं उल्लेख न होता। उत्तर काल की एक भी पुस्तक ऐसी नहीं है जो विस्तार में ऋग्वेद का

दसवाँ ही अंश हो और उसमें जाति भेद का वर्णन न हो[१]।

'वर्ण' शब्द जिसका अर्थ आजकल 'जाति' लिया जाता है, ऋग्वेद में केवल आर्यों और अनार्यों का भेद प्रकट करने के लिए आया है। कहीं भी उसका प्रयोग आर्यों की भिन्न-भिन्न जातियों को प्रकट करने के लिए नहीं हुआ है[२]। वेद में 'क्षत्रिय' शब्द का प्रयोग जिसका अर्थ आजकल 'क्षत्रिय' जाति किया जाता है, केवल विशेषण की भाँति देवताओं के सम्बन्ध में हुआ है और उसका अर्थ 'बलवान' है[३]। 'विप्र' जिसका तात्पर्य आजकल ब्राह्मण जाति से लिया जाता है, वह भी ऋग्वेद में केवल विशेषण की भाँति देवताओं के सम्बन्ध में आया है और वहाँ पर उसका अर्थ बुद्धिमान है[४]। इसी प्रकार 'ब्राह्मण' शब्द, जो आजकल 'ब्राह्मण' जाति प्रकट करता है, उसका प्रयोग सैकड़ों जगह केवल 'सूक्तकार' के अर्थ में हुआ है[५]।

ऋग्वेद में 'वर्ण'

कहने का तात्पर्य यह है कि लगभग २००० वर्ष विक्रमीय पूर्वतक जातियाँ नहीं थी। लोग उस समय तक एक में मिलकर रहते थे और एक ही नाम अर्थात् 'विशः' के नाम से पुकारे जाते

१—आर० सी० दत्त-हिस्ट्री आफ सिविलाइज़ेशन इन एशियेण्ट इण्डिया, भा० १ पृष्ठ ६५।

२—ऋग्वेद ३। ३६। ४ आदि।

३—ऋग्वेद ७। ६४। २; ७। ८६। १ आदि।

४—ऋग्वेद ८। ११। ६।

५—ऋग्वेद ७। १०३। ८ आदि।

थे[१]। जो भी व्यक्ति मंत्र रचने की योग्यता रखता था और अपने बन्धुओं द्वारा सम्मानित हो सकता था 'ब्राह्मण' अर्थात मुनि कहकर पुकारा जाता था। जिसने शस्त्र-क्रिया में दक्षता प्राप्त की वह 'क्षत्रिय' अर्थात् बलवान कहा जाता था, किन्तु चाहे वह बुद्धिमान हो अथवा बलवान् वह 'विश' अर्थात् एक ही समाज का समझा जाता था[२]। ऋग्वेद में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि सब समाज के समान अङ्ग हैं[३]।

विशः

इस प्रकार ऋग्वैदिक काल के अन्त तक जातिभेद न था[४]। किन्तु थोड़े ही दिनों पश्चात् भेद स्पष्ट होने लगा और ब्राह्मणवर्ग अलग पैदा हुआ। रामायण में लिखा है कि 'कृतयुग में केवल ब्राह्मण ही तपस्या करते थे, त्रेत्रायुग में क्षत्रिय लोग उत्पन्न हुए और तब आधुनिक जातियाँ बनीं'[५]। इस कथन का ऐतिहासिक भाव यही होता है कि वैदिक युग में आर्य सब संयुक्त थे और समान कृत्य करते थे। पश्चात् धर्माध्यक्ष (ब्राह्मण) और शासक (क्षत्रिय) वर्ग स्पष्ट रूप से प्रकट हुए और तदनन्तर शेष जन-

बर्ण भेदका आरम्भ

१—वेवर–इण्डियन लिटरेचर (ट्रान्सलेशन) पृ० ३८।

२—पी० एन० बोस–हिन्दू सिविलाइज़ेशन अण्डर बृटिश रूल, भा० २।

३—ऋग्वेद १०। ९०। ९, १०।

४—पी० एन० बोस–हिन्दू सिविलाइज़ेशन अण्डर बृटिश रूल, भाग १।

५—वाल्मीकि रामायण–उत्तरकाण्ड अध्याय ७४।

साधारण वैश्य और शूद्रों में बँट गए [१]। बृहदारण्यक उपनिषत् से भी इस कथन का समर्थन होता है कि पहले एक मात्र ब्राह्मण जाति थी, वह जाति अकेली न बढ़ सकी इससे उस श्रेष्ठ वर्ग ब्राह्मण ने क्षत्रिय की सृष्टि की [२]। महाभारत (शान्ति पर्व) में अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'देव देवनारायण के वाक्यसंयम के समय उनके मुख से पहले ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई। अन्यान्य वर्ण ब्राह्मण से उत्पन्न हुए' [३]। अथर्ववेद के एक श्लोक से भी प्रकट होता है कि उस काल तक दो ही विभाग समाज के थे [४]।

इस तरह के स्पष्ट भेद हो जाने पर भी उनमें किसी प्रकार का भेद भाव जैसा कि आजकल देखा जाता है, नहीं था [५] जन्म से कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा शूद्र नहीं होता था। वह गुण और कर्म का भेद माना जाता था [६]। प्रत्येक को अपनी इच्छा के अनुसार व्यवसाय निर्धारित करने और व्यवसाय बदलने की पूरी स्वतंत्रता थी,

वर्ण कर्मणा

१—आर० सी० दत्त-हिस्ट्री आफ सिविलाइज़ेशन इन एंशेण्ट इण्डिया, भा० १ पृष्ठ १५४।

२—बृहदारण्यक उपनिषत् १।४।११।

३—महाभारत, शान्ति-पर्व ३४२।२१।

४—अथर्ववेद २०।२५।

५—यजुर्वेद २६ । २; महाभारत, शान्तिपर्व १८६ । २ । ७ ।

६—महाभारत, शान्तिपर्व, १८८ । २ । ८; अनुशासन पर्व, १४३।५१; १४४ । २६, ४६, ४७, ५६; बृहद्धर्म पुराण, उत्तर खण्ड, १ । १४ । १६ ।

व्यवसाय बदलने पर उसका वर्ण भी बदल जाता था [१]। प्राचीन ग्रन्थों में इसके असंख्य उदाहरण मिलते हैं।

छान्दोग्य उपनिषत् में लिखा है कि सत्यकाम जाबाल नामक दासी पुत्र जिसके पिता का निश्चय माता भी नहीं कर सकती थी, ब्रह्मविद्या सीखकर ऋषिपद को प्राप्त हुआ [२]। ऐतरेय उपनिषत् के निर्माता ऐतरेय, जैसा कि नाम से विदित होता है, इतरा अर्थात् शूद्रा के पुत्र थे, उनका पूरा नाम महिदास ऐतरेय था [३]। दीर्घतम ऋषि की माता का नाम उशिज था [४] जो शूद्र दासी थीं [५]। कण्व वंशी वत्स दासी पुत्र थे [६]। ऐलूष नामक ऋषि की माता इलिष भी एक शूद्र दासी थीं [७]। महाभारत में इस प्रकार के अनेक उल्लेख प्राप्य हैं। वेदान्त सूत्र और महाभारत के रचयिता व्यास केवट (मल्लाह) पुत्री के जारज सन्तान थे, उनके पिता पराशर चाण्डाली के पेट से पैदा हुए थे। महामुनि वशिष्ठ गणिका पुत्र थे। तपस्वी विश्वामित्र क्षत्रिय थे। [८]

उपनिषत् से ज्ञात होता है कि ब्रह्मज्ञान के बड़े-बड़े उपदेष्टा

१—ऐतेरेय ब्राह्मण ४। १। १०।

२—छान्दोग्य उपनिषत् ४। ४।

३—ऐनरेय उपनिषत् १। ८। २।

४—पञ्चविंश ब्राह्मग १४। १। १७।

५—वृहद्देवता ४। २४। २५।

६—पञ्चविंश ब्राह्मण १४। ६:६।

७—ऐनरेय ब्राह्मण २। ८।

८—महाभारत, वनपर्व।

क्षत्रिय हैं। जनक, अजातशत्रु, अश्वपति, कैकय, प्रवाहण, जैवलि आदि बड़े-बड़े ब्रह्मवेत्ता थे जिनके पास ब्राह्मण ऋषि भी ब्रह्मविद्या सीखने आते थे[१]। क्षत्रिय लोग यज्ञ के अनुष्ठान के परिचालक भी होते थे[२]। भृगुवंशी लोग रथ बनाया करते थे[३]। हरिवंश पुराण में लिखा है कि नाभागरिष्ट वैश्य के दो पुत्र ब्राह्मण हो गए[४]। विष्णुपुराण में लिखा है कि नैदिष्ट के पुत्र नाभाग वैश्य हो गए[५] एक ही कुल में चारों वर्ण के मनुष्य होने का भी प्रमाण मिलता है। विष्णुपुराण में लिखा है कि गृत्समद का पुत्र सुनक था जिसका पुत्र सौनक हुआ; उसके वंश में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्ण के लोग अपने कर्मानुसार हुए[६]। एक ही परिवार में अनेक व्यवसाय के लोग होते थे। ऋषिपुत्र अंगिरस कहते हुए पाये जाते हैं कि मैं स्तव रचना करता हूँ, पिता भिषक (वैद्य) और माता पिसनहारी (शिलाप्रक्षणी) है[७]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि योग्यता और बुद्धि के बलपर

१—वृहदारण्यक उपनिषत् ३। १। १; ६। २। १; छान्दोग्य उपनिषत् ४। १। १; ४। २। १; ५। १४। ८।

२—ऋग्वेद १०। ९८।

३—महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १७५।

४—हरिवंश पुराण ११। ६५८।

५—विष्णुपुराण ६। २। २५।

६—विष्णुपुराण ४। ८। ६; हरिवंश पुराण २१। ३२।

७—ऋग्वेद ६। ११२। ३।

कर्म और कर्म के अनुसार वर्ण का निर्माण होता था[1]। बौद्ध कथा साहित्य में भी इस बात का स्पष्ट निर्देश है। उनके देखने से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण स्वयं कहते थे कि ब्राह्मणत्व का जन्म से कोई सम्बन्ध नहीं है वरन् कर्म से है।

न जच्चा ब्राह्मणो होति न जच्चा होति अब्राह्मणो,

कम्मना ब्राह्मणो होति, कम्मना होति अब्राह्मणो[2]।

ब्राह्मण होना वैदिक पूजा के ज्ञान पर निर्भर करता था और ब्राह्मण-पद पाने के लिए विधान होते थे। कौस्तकी ब्राह्मण में लिखा है कि यदि शिष्य में ब्राह्मण होने की योग्यता है तो गुरु को अधिकार है कि वह उसे आर्षेयम् अर्थात् ब्राह्मण पद दे देवे[3]।

कौस्तकी के इस कथन से स्पष्ट जान पड़ता है कि वर्ण व्यवस्था का प्रारम्भिक रूप एक संघ अथवा संस्था (Corporation) सरीखा रहा होगा। योग्यता के बल पर कोई भी किसी वर्ण में प्रवेश कर सकता था। बाद में यही व्यवस्था जाति व्यवस्था के रूप में परिवर्तित हो गई और ब्राह्मण एवं क्षत्रिय जातियों ने स्थायी रूप धारण कर लिया। और स्वतंत्र सत्ता के विकास के साथ-साथ ब्राह्मणों में विद्याध्ययन विशेष के आधार पर

उसका प्रारम्भिक रूप

१—शतपथ ब्राह्मण ११। ६। २। १०, तैतरेय संहिता ६। ६। १ ४, काठोपनिषत् ३०। १।

२—संयुक्त निकाय, वासेट्ठ सुत्त, वत्थु कथा।

३—कौस्तकी ब्राह्मण २४। ५५।

उपभेदों का भी विकास होने लगा। यथा—यजुर्वेदीय, ऋग्वेदीय, आपस्तम्ब, मैत्रेयणी, हिरण्यकष, आदि। तत्पश्चात् जन्मगत समाज के विकास होने पर उपजातियों का निर्माण विद्याध्ययन के स्थान पर निवास स्थान के आधारपर होने लगा। यथा—कान्यकुब्ज, गौड़, कोंकणस्थ, तैलंग आदि। इस प्रकार धीरे-धीरे ब्राह्मण वर्ग में अनेक शाखाओं और उपशाखाओं का निर्माण हुआ और आज तो ब्राह्मण जाति में हज़ार भेद और उपभेद हैं। अकेले सारस्वत ब्राह्मणों में ४६९ शाखाएँ हैं[२]। ब्राह्मण नाम से सम्बोधित होनेवाले इस वर्ग को इन भेदोंपभेदों को भोजन व्यवहार और विवाह सम्बन्ध के विचार से पृथक-पृथक जातियाँ ही समझना चाहिये[३]। इसी प्रकार क्षत्रिय जाति के नाम से पुकारे जानेवाले वर्ग में भी ५९० शाखाएँ हैं[४]।

वैश्य

ऊपर हमने एक स्थान पर उल्लेख किया है कि आरम्भ में सारी जनता विशः के नाम से पुकारी जाती थी। विशः का मूल अर्थ तो केवल 'बैठना' है। घूमने फिरने के बाद जब आर्य लोग भूमि पर बैठ गए अर्थात् स्थायी रूप से बस गए और मुख्यतः खेती बारी से अपनी जीविका करने लगे तब उनकी बस्ती 'विश' कहलाने लगी।

१—ब्लूमफील्ड—रिलिजन ऑफ़ दि वेदाज़, पृ० ६।

२—लाला बैजनाथ–हिन्दुइज़्म-ऐंशियेण्ट एण्ड मॉर्डन, पृ० ६।

३—रामबहादुर शर्मा–ब्राह्मण परिचय, पृ० ४।

४—लाला बैजनाथ–हिन्दुइज़्म-ऐंशियेण्ट एण्ड मॉर्डन, पृ० ६।

बस्ती के अर्थ से धीरे-धीरे यह शब्द बसने वालों अर्थात् जनता का द्योतक होगया[1]। पश्चात् जब ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग दृढ़ होकर जन समुदाय से अलग होगया तो शेष जन समुदाय के लिए जो काफी बड़ी संख्या में था, 'विश' शब्द का प्रयोग होने लगा। ऋग्वेद के एक मन्त्र से यह बात स्पष्ट ज्ञात होती है।[2] उसमें पहले क्षत्रिय के लिए बल की प्रार्थना की गई है फिर विश के लिए वही प्रार्थना दुहराई गई है। यह विश वर्ग धीरे-धीरे 'विश्य' और पश्चात् 'वैश्य' कहा जाने लगा।[3] ये लोग खेती पशुपालन, नाना प्रकार की दस्तकारी इत्यादि बहुत से व्यवसाय करते थे। धीरे-धीरे इसमें भी व्यवसायिक एवं भौगोलिक कारणों से अनेक समुदाय का निर्माण होने लगा।

वैश्य समाज, नाम के अतिरिक्त अन्य बातों में आरम्भ से ही अनेक समूहों में विभक्त जान पड़ता है। वैदिक साहित्य में कितने ही ऐसे समुदायों के नाम मिलते हैं जो आज जाति के रूप में वर्तमान हैं। ऐसे कुछ नाम निम्न हैं:—

वैदिक समूह

१—बेनीप्रसाद–हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, पृ० ४६—४७।

२—ऋग्वेद ८। ३५। १७—१८।

३—'विश्य' शब्द, वाजसनेयि संहिता १८। १४, अथर्ववेद ६। १३। १ इत्यादि में आया है। ऋग्वेद के प्रथम ९ मंडलों में वैश्य शब्द का कोई भी उल्लेख नहीं है। उसका पहले-पहल प्रयोग पुरुषसूक्त अर्थात दशम मंडल (९०) में हुआ है, जो अपेक्षाकृत आधुनिक है।

वैदिक साहित्य के नाम	वर्तमान नाम	पेशा
कुलाल	कुम्हार	बर्तन बनाना
कैवर्त	केवट	मछली मारना
गोपाल	ग्वाला	दूध दही बेचना
धैवर	धीवर	मछली मारना
नापित	नापित, नाई	बाल बनाना

इस प्रकार के नामों की एक लम्बी तालिका प्रस्तुत की जा सकती है जिसके देखने से जान पड़ता है कि ये जातियाँ वैदिक काल में ही प्रख्यात वर्ग के रूप में प्रचलित हो गई थीं। धीवर के उत्तराधिकारी को 'धैवर' सम्बोधन के आधार पर इस मत की पुष्टि होती है। वैदिक साहित्य में निषध का उल्लेख एक प्रमुख वर्ग के रूप में हुआ है, वही मनुस्मृति में एक सामाजिक संस्था बन गया है।[१] इसी प्रकार व्यापारिक और राजनैतिक संस्थाएँ भी धीरे-धीरे सामाजिक रूप में परिवर्तित हुईं और अन्ततोगत्वा उन्होंने जाति का रूप धारण कर लिया।

इन समुदायों को प्राचीन साहित्य में 'गण' नाम से पुकारा गया है। 'गण' का अर्थ समूह है। प्राचीन काल में धनोपार्जन एवं व्यवसाय व्यक्तिगत रूप से करना सम्भव न था। व्यवसायियों को तत्कालीन अरक्षित जीवन के कारण अपना काम संगठित

गण

१—मनुस्मृति १०।८।

होकर करना पड़ता था। उन्हें दूर देश में जाना होता था। मार्ग बड़े बीहड़ थे। लुटेरों का भय बराबर बना रहता था। उनसे बचना तभी सम्भव था जब संगठित रूप में उनका सामना किया जाय। प्राचीन साहित्य में डाकुओं के अस्तित्व का उल्लेख पर्याप्त संख्या में है। जातक की एक कहानी में पाँच सौ डाकुओं और उसके सरदार का उल्लेख है।[१] अन्य कई जातक कथाओं में व्यवसायियों द्वारा डाकुओं के सामना करने का वर्णन है।[२]

व्यवसायियों का संगठित होना इतिहास काल के प्रारम्भ में ही शुरू होगया था। ऋग्वेद में 'पणि' शब्द का उल्लेख अनेक स्थानों पर हुआ है। सेएट पीटर्सबर्ग डिक्शनरी में इसकी उत्पत्ति 'पण' धातु से बताया गया है, जिसका अर्थ होता है बदलौन करना (to barter) और उसका तात्पर्य व्यापारी अथवा व्यवसायी माना गया है। ज़िमर[३] और लुडविग[४] भी इस शब्द का तात्पर्य व्यवसायी ही लेते हैं। लुडविग के मत में 'पणि' से तात्पर्य उन व्यवसायियों से है जो सदैव झुण्ड में चलते थे और अपने माल की रक्षार्थ युद्ध के लिए तत्पर रहते थे। यदि इस अर्थ को स्वीकार कर लिया जाय तो यह अर्थ होगा कि जातक में

पणि

१—जरुदपन जातक।

२—सतिगम्य जातक।

३—ज़िमर-Altindisches Leben पृ० २७५।

४—लुडविग-Der Rigveda 3, 213, 215

जिन संस्थाओं का उल्लेख है वे ऋग्वेद काल में भी विद्यमान थीं।

व्यवसायियों की संस्थाओं की भाँति शिल्पकारों के भी गण थे। किन्तु इनका विकास वैदिक काल में हो चुका था या नहीं यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। इस सम्बन्ध में आज प्रमाण रूप में केवल 'श्रेष्ठि'[1] शब्द प्राप्य है। पारवर्ती साहित्य में 'श्रेष्ठिन्' शब्द का प्रयोग श्रेणी, संघ, संस्था के रूप में हुआ है। डाक्टर मेक्डानेल का मत है कि वैदिक साहित्य में भी इसका यही अर्थ रहा होगा[2]। डाक्टर राधाकुमुद मुकर्जी का मत है कि 'श्रेष्ठिन्' का अथ वैदिक साहित्य में सदैव श्रेणीके मुखिया से रहा है[3]। इसी प्रकार राथ के मतानुसार 'गण' शब्द भी वैदिक साहित्य में श्रेणी-समूह-के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[4] इन विद्वानों के मत को देखने से पूर्व वैदिक काल में ही वैश्य समुदाय में गण और श्रेणि के अस्तित्व का अनुमान होता है, किन्तु उसका स्पष्ट निर्देश ईसा पूर्व आठवीं शताब्दी में ही प्राप्य है।

शिल्पकारों के गण

वैदिक युग के पश्चात् के साहित्य के देखने से स्पष्ट जान पड़ता है कि साधारणतया समान व्यवसाय से जीविकोपार्जन

१—आत्रेय ब्राह्मण, ३। ३०। ३; कौस्तकी ब्राह्मण, १८। ८; तैतिरेय ब्राह्मण ३। १, ४। १।

२—वैदिक इण्डेक्स, पृ० ४०३।

३—राधाकुमुद मुकर्जी—लोकल गवर्नमेंट इन ऐंशियेंट इंडिया, पृ०४१।

४—सेंट पीटर्सवर्ग डिक्शनरी। 'गण' शब्द।

करने वाले लोग अपना एक समुदाय बना लेते थे और उसके लिए एक निश्चित नियम बनाते थे। गौतम ने वैश्यों के व्यवसाय कृषि, वाणिज्य, गोपालन और महाजनी (सूद पर रुपया देने) का निर्देश किया है।[१] इस निर्देश के पश्चात् दूसरे अध्याय में लिखा है कि 'कृषक, व्यवसायी, गोपालक, महाजन और शिल्पियों को अपने-अपने समुदाय के लिए विधान बनाने का अधिकार है, और प्रत्येक अवस्था में उन लोगों की, जिन्हें कहने का अधिकार प्राप्त है, बात सुन लेने के बाद वह (राजा) अपना निर्णय देगा।[२] इससे स्पष्ट होता है कि प्रत्येक व्यवसाय के लोगों का अपना कोई न कोई निश्चित संगठन था और उस संगठन (संस्था) की इतनी महत्ता थी कि उसके बनाये नियम शासक को भी मान्य थे और शासक उस संस्था के प्रतिनिधि की सलाह लिए बिना उससे सम्बन्ध रखने वाली किसी बात का निर्णय नहीं करता था।

श्रेणि

व्यवसायियों की ऐसी संस्था को व्यक्त करने के लिए 'श्रेणि' शब्द का व्यवहार होता था। इस शब्द से उस जन समूह के संगठन का बोध होता था जो एक प्रकार का व्यवसाय, वाणिज्य या शिल्प करते थे[३]। प्राचीन साहित्य (बौद्ध और ब्राह्मण दोनों)

१—गौतम-धर्मसूत्र, १०,४६।

२—वही ११।२०,२१।

३—महाभारत, ३। २४८।१६; कौटिलीय अर्थशास्त्र, २।४।२३; रमेशचन्द्र मजुमदार—कारपोरेट लाइफ इन ऐंशियेण्ट इण्डिया, पृ० १७। इसके

तथा अभिलेखों में ऐसी श्रेणियों के असंख्य उदाहरण पाये जाते हैं जिससे गौतम कथित प्रमुख व्यवसायियों का पूर्णतया समर्थन होता है।

ऐसी श्रेणियों की संख्या विभिन्न समयों और विभिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न रही होगी, यह तो निश्चित सा है। मुगपक्क जातक में लिखा है कि 'राजा ने चारो वर्णों, १८ हो श्रेणियों और अपनी समस्त सेना को एकत्र किया।' इस कथन से यह आभास मिलता है कि किसी राज्य में श्रेणियों की सामान्य संख्या १८ मानी जाती थी। किन्तु ये श्रेणियाँ किन-किन व्यवसायियों की होती थीं इसके निश्चय करने का कोई भी साधन आज प्राप्य नहीं है। लेखों और साहित्यों में उल्लिखित श्रेणियों की संख्या एकत्र करने पर इससे कहीं अधिक ज्ञात होती है। निम्नलिखित नामों से श्रेणियों के विस्तृत क्षेत्र का कुछ आभास मिल सकता है:—

श्रेणियों की संख्या

काष्ठ व्यवसायी (इनमें बढ़ई, राजगीर, पोतनिर्माता, यान निर्माता आदि भी सम्मिलित हैं), धातु शिल्पी (इसमें स्वर्ण और रजतकार भी सम्मिलित हैं), चर्मकार, रंगसाज़, माली, पोतवाहक, डाकू, बनरक्षक (जो व्यवसायियों की देख रेख करते थे)[1] हस्ति दन्तकार, जौहरी, डलिया बनाने वाले, रंगरेज़, मछुवा, कसाई,

अतिरिक्त विशेष निर्देश के लिए देखिए राधाकुमुद मुकर्जी कृत लोकल गवर्नमेंट इन ऐंशियेण्ट इण्डिया, पृ० २६।

१—जातक कथाएँ।

नाई,[१] औद्योन्तिक, जुलाहे, कुम्हार, तिलपिशक (तेली)[२] वासकार, कसकर, धंणिक[३] गोपालक कृषक, महाजन, व्यापारी (जिनमें घूम कर बेचने वाले भी हैं)[४]।

इन श्रेणियों का विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने की कोई सामग्री आज उपलब्ध नहीं है। उनका विभिन्न कालों में जो विकसित रूप रहा है, उसीका आभास मात्र ज्ञात हो सकता है। जातक गाथा युग (७ वीं और ६ ठीं शताब्दी ई० पू०) पर डाक्टर रिचर्ड फिक ने बहुत ही विस्तृत अध्ययन किया है[५]। उनका कहना है कि इन श्रेणियों के संगठन का जहाँ तक सम्बन्ध है व्यवसायियों और शिल्पियों, दोनों के संगठन में अन्तर था। व्यवसायी लोग अपने पैत्रिक व्यवसाय को करते हुए अपना संगठन बनाते थे, और एक व्यक्ति को अपना जेथ्थक (जेष्ठक) अथवा श्रेष्ठिन नियुक्त करते थे, किन्तु जातकों में कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिलता जिससे ज्ञात हो सके कि उनका संगठन उन्नतिशील था। शिल्पियों के

जातक गाथा युग

१—रीस डैविड्स–बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० ९० ।

२ एपिग्रेफिका इण्डिका, भाग १०, परिशिष्ट (नासिक अभिलेख) ।

३—वही, (जुनार अभिलेख) ।

४—गौतम ११।२१ ।

५—यह पुस्तक फ्रेञ्च भाषा में लिखी गई है और इसका अंग्रेजी अनुवाद शिशिरकुमार मैत्र ने 'सोशल आर्गनाइज़ेशन इन नार्थ ईस्ट इण्डिया इन बुद्धाज़ टाइम' नाम से किया है ।

श्रेणियों की अवस्था इससे भिन्न थी। इनकी शिल्पकला व्यवसायियों के व्यवसाय की अपेक्षा अधिक पैत्रिक थी। पुत्र बचपन ही से अपने पिता के शिल्प का अभ्यास करता था। इस प्रकार एक निश्चित शिल्प वंशपरम्परागत चली जाती थी। किसी भी जातक में किसी शिल्पी द्वारा अपने पैत्रिक शिल्प को छोड़कर अन्य शिल्प के अपनाने का उल्लेख प्राप्य नहीं है। इसके विपरीत पुत्र द्वारा पिता के शिल्प के ग्रहण करने का उल्लेख है। श्रेणियों की दूसरी विशेषता उनके निवास स्थान की ससीमता है। गली, नगर के विशेष भाग, यहाँ तक कि समूचे गाँव में एक ही तरह के शिल्पियों और व्यवसायियों के रहने का उल्लेख पाया जाता है। दन्तकार वीथी, रजक वीथी, औद्यान्तिक घर वीथिनम्, महावड्ढकिगामो, कम्मारगामों, आदि जातक में आए शब्दों से इसकी पुष्टि होती है। ये गाँव कभी-कभी बहुत बड़े होते थे। महावड्ढकिगामों में एक हज़ार काष्ठके व्यवसायियों और कम्मारगामों में एक हज़ार कुम्हारों के रहने का उल्लेख है। शिल्पकारों भी जेष्ठक होता था। जेष्ठक कभी कभी वंशगत होता था।

जातक गाथा युग के पश्चात् पूर्व धर्मसूत्रकाल (५ वीं से ३ री शताब्दी ई० पू० तक) में श्रेणी संगठन अधिक विकसित दिखाई देता है। जैसा कि हम पहले गौतम के दो श्लोकों का उल्लेख कर आए हैं, इस युग में श्रेणियोंको अपने लिए शासन विधान बनानेका अधिकार जान पड़ता है। शासन के इन विधानों का उपयोग श्रेणि अपने

पूर्व धर्मसूत्र काल

सदस्यों पर कर सकता था यह विनय पिटक में दिए दो नियमों से ज्ञात होता है [1] । एक नियम से जान पड़ता है कि श्रेणि को कुछ अवसरों पर अपने सदस्य और उसकी पत्नी के बीच पञ्च का कार्य करने का अधिकार था । दूसरे के अनुसार श्रेणि अपने सदस्य को विवाह की आज्ञा प्रदान करता था । इसी पुस्तक के एक अंश से ज्ञात होता है कि श्रेणियों को न्याय अधिकार भी प्राप्त थे । उसमें एक नियम दिया गया है कि कोई भी स्त्री जो चोर रही हो शासक की आज्ञा बिना भिक्षुणी नहीं बनाई जा सकती । उस नियम में शासक का तात्पर्य राजा, संघ, गण, पुग, श्रेणी लिया गया है । इससे जान पड़ता है कि न्याय के सम्बन्ध में श्रेणी का वही स्थान समझा जाता था जो राजा अथवा अन्य राजनैतिक संस्थाओं को प्राप्त था ।

इस युग के श्रेणी संगठन के सम्बन्ध में कौटिल्य के अर्थ शास्त्र से बहुत कुछ ज्ञात होता है । उससे जान पड़ता है कि उन दिनों श्रेणियों के पास बहुत बड़ा सैनिक बल भी होता था । कौटिल्य ने राजा की सैनिक शक्ति का उल्लेख करते हुए श्रेणिबल का भी उल्लेख किया है [2] । उससे जान पड़ता है कि श्रेणियों के पास सेना इतनी काफी संख्या में होती थी कि वह आक्रमण और रक्षा दोनोंका भार ले सकती थी ।

उत्तर धर्मसूत्र काल (२ री शताब्दी ई० पू० से ४ थी शताब्दी

१—विनय पिटक, ४ । २२६ ।

२—कौटिलीय अर्थशास्त्र, ६ । २ । १ ।

ई० पू० तक) में श्रेणियों और अधिक विकसित अवस्था में ज्ञात होती है। मनुस्मृति में न केवल गौतम का ही

उत्तर धर्मसूत्र काल

समर्थन किया गया है वरन् उसमें तो श्रेणि धर्म का भी उल्लेख है।[1] उन विधानों के देखने से जान पड़ता है कि अब ये श्रेणियां केवल एक व्यवसायिक एवं सामाजिक संस्था न रह गई थीं, वरन् ईसा शताब्दी के आरम्भ होते-होते उनकी राजनैतिक महत्ता भी होगई थी। वे केवल राज्य के अंग मात्र न थे वरन् उनका अधिकार शासक के समान होगया था। इसके अतिरिक्त प्रधान शासक की ओर से उनके स्थायित्वका विश्वास भी दिलाया गया था जिसके कारण उनपर जनता का विश्वास बढ़ गया था। इसके प्रमाण अनेक शिलालेखों में मिलते हैं। इन शिलालेखों के देखने से जान पड़ता है कि लोगों ने इनके हाथ में बैङ्क सरीखा काम निश्चिन्ततापूर्वक दे रक्खा था। नासिक में प्राप्त एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि ये श्रेणियाँ ९ से १२ प्रतिशत तक वार्षिक सूद देती थीं। इसी शिलालेख से यह भी ज्ञात होता है कि वे जनता के धन के ट्रस्टी का भी काम करती थीं; साथ ही उनके हाथ में म्युनिस्पल बोर्ड सरीखा भी काम था। न्याय और शासन के अधिकार तो थे ही [2]। इन श्रेणियों का संचालन बृहस्पतिसंहिता के अनुसार

१—मनुस्मृति, ८। २१९।

२—एपिग्रेफिका इण्डिका, भाग १०, परिशिष्ट।

एक श्रेष्ठिन् और दो, तीन अथवा पाँच शासनाधिकारियों द्वारा होता था। वे ही लोग शासनाधिकारी चुने जाते थे जो वेदज्ञ, योग्य, संयमी, उच्चकुलोत्पन्न और प्रत्येक व्यवसाय में दक्ष होते थे।[1] शासनाधिकारियों द्वारा संचालित इस संस्था में प्रजातंत्रात्मक भावना पूरी तरह से थी। उनकी अपनी व्यवस्थापक सभा होती थी जहाँ जन हित के लिए श्रेणि के सदस्य एकत्र होते थे।[2] उसके सदस्यों के उपस्थित होने के नियम थे जो शासक द्वारा स्वीकृत होते थे।[3]

श्रेणियों का पारवर्ती रूप

इस प्रकार हम देखते हैं कि धीरे-धीरे व्यवसायियों की इन श्रेणियों ने स्वतंत्र गण, जनपद अथवा संघ (ट्राइबल सिटी स्टेट्स) का रूप धारण कर लिया। कौटिल्य ने ऐसे गणों को वार्ताशब्दोपजीवी नाम से पुकारा है[4]।

आधुनिक जातियों का विकास

पश्चात् जब शक्तिशाली राजाओं का आविर्भाव हुआ तब इस प्रकार के गणों की राजनैतिक सत्ता बिल्कुल नष्ट हो गई। सातवीं शताब्दी में आने वाला चीनी यात्री हुएनसांग इस प्रकार के गण अथवा श्रेणियों का तनिक भी उल्लेख नहीं करता। इन

१—बृहस्पतिसंहिता, १७। ६, १०।

२—वही, १७। ११।

३—नारद स्मृति, १०। २०।

४—कौटिलीय अर्थशास्त्र, ११। १। ५।

संस्थाओं की राजनैतिक सत्ता नष्ट करने के पश्चात् भी तत्कालीन सम्राटों ने उनके रीति रिवाजों, नियम कानूनों और प्रथाओं के सम्बन्ध में कोई हस्तक्षेप नहीं किया वरन् उन्हें साम्राज्य के कानून का एक अंग माना। फल यह हुआ कि राजनैतिक सत्ता नष्ट हो जाने पर भी गणों और श्रेणियों की सामाजिक स्वाधीनता एवं पृथक सत्ता कायम रही। उनमें पृथक व्यक्तित्व और पृथकता की भावना बनी रही। वे अपने व्यवसायिक बुद्धि का उपयोग करते रहे और अन्ततोगत्वा पूर्णरूप में व्यापारी हो गए।[१] इस प्रकार पिछले डेढ़ हज़ार वर्ष के बीच व्यवसायियों ने अपने जो भिन्न-भिन्न समुदाय बनाये थे, उन्हीं में वे सीमित हो गए और अपने व्यवसाय एवं स्थान के अनुसार धीरे-धीरे आधुनिक जातियों का रूप धारण कर लिया, किन्तु जाति का आज जो रूप है उसके बनने में अभी ७०० वर्ष और लगे।

वैश्य समुदाय के श्रेणियों के रूप में छोटे छोटे समूहों में बँट जाने पर भी बहुत काल पश्चात तक इनका व्यक्तित्व पृथक न था।

वैश्य जातियाँ

सारा व्यवसायी समाज ब्राह्मण एवं क्षत्रिय की भाँति एक अर्थात वैश्य कहे जाते थे। नवीं शताब्दी में इब्न खुरदाद बा नामक एक अरब यात्री आया था। उसने अपनी यात्रा का वृतान्त लिखा है। उसमें वह केवल सात जातियों का उल्लेख करता है, यथा—

१—काशीप्रसाद जायसवाल—हिन्दू राजतंत्र पृ० ६१।

क्षत्रिय, ब्राह्मण, राजपूत, वैश्य, शूद्र, चाण्डाल, और लाहुड़। इससे जान पड़ता है कि उस समय तक वैश्य समुदाय जातियों के रूप में विकसित नहीं हुआ था। श्रीयुत वैद्य महोदय का मत है कि दशवीं शताब्दी के पश्चात वैश्य समुदाय अपने निवास के नाम पर जातियों के रूप में परिणत होने लगा था, किन्तु मुस्लिम काल के आरम्भ तक आज-कल वैश्य कही जाने वाली किसी जाति का निर्माण नहीं हुआ था।[1] अधिकांश वैश्य कर्म करने वाला समाज जैन और बौद्ध धर्मावलम्बी रहा है इस कारण उसमें अधिक समय तक आज जैसी जातियों का विकास न हो सका था। हाँ, धर्म के आधार पर उत्तर भारत के वैश्य दक्षिण भारत के वैश्यों से अलग हो गए। वैश्य समाज की आधुनिक जातियों ने अपना रूप मुस्लिम काल में ही धारण करना आरम्भ किया यह तो स्पष्ट है, किन्तु कब धारण किया यह निश्चित रूप से कहना कठिन है, जब भी धारण किया हो यह भी बात स्पष्ट है कि उनका विकास पुरातन काल के व्यवसाय, वर्ग, राजनीति और धर्म सम्बन्धी समाज और संघों (Corporations) से स्वतन्त्र रूप से हुआ है। इसी सूत्र के सहारे आज किसी भी वैश्य जाति के विकास का इतिहास ढूँढा जा सकता है।

वैश्य समाज की अनेक जातियों के सम्बन्ध में यह किंवदन्ती

१—सी० वी० वैद्य—हिस्ट्री आव मिडिवल हिन्दू इण्डिया, भाग ३, पृ० ३६१।

किंवदंती

चली आती है कि उनका उद्भव किसी प्राचीन राजा से हुआ है, वे किसी राजा की सन्तान हैं, किसी समय उनका भी पृथ्वी पर राज्य था। रसेल[१], कर्नल टाड[२], ईलियट[३] आदि ऐतिहासज्ञों का मत है कि प्रायः सभी व्यापारी एवं वैश्य जातियों का उद्भव राजपूतों से हुआ है। इन लोगों ने जिन किंवदन्तियों का सहारा लेकर वैश्य जातियों के मूल में राजपूतों को बताने की चेष्टा की है वस्तुतः उनका ऐतिहासिक दृष्टि से अभिप्राय यही है कि किसी समय उनके अपने राज्य थे, उनके भी अपने राजा थे। यद्यपि इनका आज कोई राज्य नहीं है, ये शस्त्र धारण नहीं करतीं, पर किसी दिन ये अपना शासन स्वयं करती थीं और व्यापार के साथ-साथ शस्त्र भी धारण करती थीं। उनके अपने राज्य होने का मतलब उनका राजपूत या क्षत्रिय होना भले ही लगाया जाय, पर इतिहास के उपर्युक्त तथ्यों पर विचार करने वाले के लिए इस कथन में कोई भेद नहीं आता। उनकी पृथक राजनैतिक सत्ता का अस्तित्व ऊपर हम देख चुके हैं। किसी समय उनका अपना राज्य (गण शासन) था ही, व्यवसाय के साथ-साथ उनकी अपनी निजी

१—रसल—ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स आफ सेन्ट्रल प्राविन्सेज़, भाग २, पृ० ११६-११७।

२—टाड्स राजस्थान, भाग १, पृ० ७६।

३—ईलियट—मेमायर्स आन द हिस्ट्री, फोक्लोर एण्ड डिस्ट्रीब्युशन आव द रेसेज़ आव एन० डब्लू० पी०।

शासन व्यवस्था भी थी और उन्हीं गण के अन्तर्गत रहने वालों की सन्तान ये वैश्य जातियाँ हैं। इस कथन के प्रमाण इतिहास में पर्याप्त संख्या में प्राप्त हैं। मल, रस्तोगी, खत्री, आरोड़ा आदि जातियों का विकास इसी प्रकार हुआ है। डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल ने अपनी पुस्तक 'हिन्दू राजतंत्र' में इसका विशद विवेचन किया है।[1] उसके दुहराने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। इन जातियों के समान ही अग्रवाल जाति का भी विकास हुआ है।

१—काशीप्रसाद जायसवाल—हिन्दू राजतंत्र, पृ० ६१।

२

'अग्रवाल'

'अग्रवाल' शब्द का प्राचीनतम उल्लेख जो मुझे ज्ञात हो सका है, कासना (दिल्ली के निकट) निवासी केवल राम लिखित 'तज़किरातुल उमरा'[1] नामक पुस्तक की हस्त-लिखित प्रति में है, जो लन्दन की इण्डिया आफिस लाइब्रेरी में है। उसमें लेखक ने अपने को अग्रवाल लिखा है।[2] इस पुस्तक में औरंगज़ेब के समकालिक समस्त अमीर उमराओं का उल्लेख है जिसके आधार पर उसका लेखन काल अधिक से अधिक अठारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध हो सकता है। इससे पूर्व भी लोग अग्रवाल कहे जाते थे यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। अकबर के राज्य काल (विक्रमीय संवत १६३२) की, सुप्रसिद्ध जैन ग्रन्थकार

प्राचीनतम उल्लेख

१—बृटिश म्युज़ियम का सूचीपत्र–पुस्तक निर्देश, Add. १६७०३।

२—यह सूचना हमें डाक्टर परमातमा शरण एम० ए०, पी० एच० डी० (काशी विश्वविद्यालय) द्वारा प्राप्त हुई है, इसके लिये हम आपके आभारी हैं।

पं० राजमल्ल लिखित 'जम्बू स्वामी चरितम्' नामक एक संस्कृत पुस्तक है, उसमें लेखक ने अपने संरक्षक को 'अग्रोतक वंश के गर्ग गोत्र' का बताया है।[१] प्रयाग के सुप्रसिद्ध प्राचीन नगर कोशाम्बी (आधुनिक कोसम) के निकट पभोसा पहाड़ (प्रभास पर्वत) की धर्मशाला में विक्रमीय संवत् १८८१ की एक प्रशस्ति लगी हुई है, उसमें उसके निर्माता ने अपना 'अग्रोतकान्वय गोयल गोत्र' कह कर परिचय दिया है।[२] अग्रोतक अथवा अग्रोदक अगरोहा का प्राचीन नाम है।[३] अगरोहा पंजाब प्रान्त के हिसार जिले के फतेहा-

---

१—जम्बू स्वामी चरितम्, कथामुख वर्णन, प्रथम सर्ग, श्लोक ६४ (इस निर्देश के लिए हम डा० वासुदेव शरण अग्रवाल एम० ए०, पी० एच० डी० के आभारी हैं।)

२—संवत् १८८१ मिते मार्गशीर्ष शुक्ल षष्ठ्यां शुक्र वासरे काष्टा संघे माथुर गच्छे पुष्कर गणे लोहाचार्यान्वये भट्टारक श्री जगत्कीर्तिस्तत्पट्टे भट्टारक श्री ललितकीर्तिजित दाम्यताये अग्रोतकान्वये गोयल गोत्र प्रयाग नगर वास्तव्य साधु श्री रायजी मलस्तदनुज फेरुमल्लस्तत्पुत्र साधु श्री मेहरचन्दस्य भ्राता सुमेरुचन्दस्तनुज साधु माणिक्यचन्दस्तत्पुत्र साधु हीरालालेन कौशाम्बी नगर वाह्य प्रभास पर्वतोपरि श्री पद्म प्रभाजिन दीक्षाह्वान कल्याणक क्षेत्रे श्री जिन विंव प्रतिष्ठा करिता अंग्रेज बहादुर राज्ये शुभं।

—एपिग्रेफिका इण्डिका, भाग २, पृ० २४३।

३—मोशियो प्रज़लुस्की ने कुछ दिन पूर्व अपने एक लेख में अगरोहा की पहचान अग्रोदक या अग्रोदके रूप में की थी। (बुलेटिन आव द स्कूल आव ओरियन्टल स्टडीज़, भाग १०, पृ० २७८)। उनके

बाद तहसील में देहली-सिरसा रोड पर स्थित एक छोटा सा कस्बा है, इसको अग्रवाल जाति अपने पूर्वजों का निवास स्थान मानती है। इन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि अकबर के समय तक अग्र-

---

इस कथन की पुष्टि अगरोहा की खुदाई में मिले मुद्राओं से होती भी है। 'अग्रोदक' एक योगिक शब्द है जिसका विग्रह 'अग्रउदक' होगा। उदक का अर्थ जल अथवा तालाब होता है। इसलिए अग्रोदक का तात्पर्य हुआ 'अग्र का तालाब' अथवा 'अग्र से सम्बद्ध तालाब'। सिरसा—अगरोहे से करनाल—थानेश्वर तक का सौ मील का प्रदेश अपने कुण्ड या ह्रदों के लिए सदा से प्रसिद्ध रहा है। इसलिए यह नाम इस बातका द्योतक है कि वहाँ भी कोई तालाब रहा है। उसकी यथार्थता सिद्ध करने के लिए एक प्राचीन तालाब का चिह्न ३१० बीघे के क्षेत्र फल में आज भी वर्तमान है। (हिसार डिस्ट्रिक्ट गज़ेटियर (१९१८) पृ० २५६-२५७।)

दक्षिण पूर्व पंजाब, जिस भाग में अग्रोहा स्थित है, मरुस्थल सरीखा है, इस लिए वहाँ स्थान की अपेक्षा जल का मूल्य अधिक माना जाता रहा होगा ऐसा ज्ञात होता है। जल के मूल्यवान होने का समर्थन वहाँ की प्रचलित एक किंवदन्ती से भी होता है। कहते हैं कि अग्रोहे में हरभज शाह नाम के एक बहुत प्रसिद्ध सेठ रहा करते थे। वे लोगों को रूपया इहलोक और परलोक के बद दिया करते थे। एक दिन लखीसिंह बनजारा ने उनसे परलोक के बद एक लाख रूपया उधार लिया। रूपया लेकर जब वह घर जा रहा था तो उसने विचारा कि इतने रूपये जो मैंने परलोक के बद लिए है वह मुझे अगले जन्म में बैल बनकर अदा करना होगा। इससे अच्छा है कि रूपया वापस कर दिया जाय। यह विचार कर वह बनजारा हरभज शाह को रूपया वापस करने आया। हरभज शाह ने यह कहकर कि रूपया

वाल शब्द का प्रचलन नहीं हुआ था, दूसरी ओर आज से १०० वर्ष पूर्व तक, जब अग्रवाल शब्द का व्यवहार आरम्भ होगया था, लोगों को अपने अग्रोतकान्वय—अग्रोतक निवासियों

परलोक के बद दिया गया है इहलोक में वापस नहीं लिया जा सकता, वापस लेने से इन्कार किया। इसपर लखीसिंह ने एक साधु के आदेशानुसार एक तालाब खुदवा कर उसके चारों ओर पहरा बैठा दिया ताकि कोई उस पानी का उपयोग न कर सके। जब कोई इसका कारण पूछता तो कहा जाता कि यह तालाब हरभज शाह का निजी है, उसके पानी के उपयोग की आज्ञा सेठजी की ओर से नहीं है। यह समाचार जब सेठजी को मालूम हुआ तो उन्हें बड़ी ग्लानि हुई और सोचा कि लोग पानी के किनारे से प्यासे लौटते हैं, यह घोर अन्याय है। अस्तु, उन्होंने लखीसिंह को बुलाकर उसका रूपया भर पाई कर दिया और पहरा उठवा दिया। (श्री विष्णु अग्रसेन वंश पुराण [भूत खंड] पृ० ५७–५८) अस्तु-यदि वहाँ के लोगों ने उस स्थान का नामकरण अपने नाम के साथ सम्बद्ध किया हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

अग्रोदक से अग्रोहा होजाना भाषा विज्ञान की दृष्टि से स्वाभाविक है। करनाल ज़िले में एक स्थान पैहोआ है, जिसका प्राचीन नाम पृथूदक था। जिस प्रकार पृथूदक से पैहोआ हो गया उसी तरह अग्रोदक से अग्रोहा हुआ होगा। अग्रोहा शब्द सम्भवतः प्राकृत 'अग + रोह्य' जो संस्कृत के अग्र + रोधक (मूल धातु–रोधस्) से बना है, उसका अर्थ 'अग्र का बाँध' होता है। पंजाबी में रोही, रोहिया, रोधिक का अर्थ नदी या नदी का गर्भ होता है (बुलेटिन आव द स्कूल आव ओरियन्टल स्टडीज़, भाग १०, पृ० २७९।) इस प्रकार हम स्पष्ट देखते हैं कि अग्रोहा और अग्रोदक समानार्थक हैं।

के वंशज—होने का पता था।[१] इसके अतिरिक्त, यह भी प्रमाणित होता है कि अग्रसेन के अस्तित्व का उन लोगों को पता न था। यदि होता तो 'जम्बू स्वामी चरितम्' अथवा 'प्रभास प्रशस्ति' में उन्हें अवश्य स्थान मिलता और लोग अग्रोतक वंशी या अग्रोतकान्वय न लिखकर अपने को अग्रसेनवंशी या अग्रसेनान्वय लिखते। अतएव स्पष्ट है कि अग्रसेन की कल्पना अभी हाल की है।

अग्रोतक निवासी वणिक

देहली से पांच मील दक्षिण स्थित सारबन नामक ग्राम से सुलतान मुहम्मद बिन तुग़लक के समय का एक अभिलेख मिला है जिस पर विक्रमीय संवत् १३८५ के फाल्गुन शुदि पंचमी मंगलवार की तिथि दी

१—अग्रोतकान्वय, अग्रवाल से भिन्न नहीं है, इसको निश्चित करने के विचार से मैंने प्रयागस्थ श्री संगमलालजी अग्रवाल एडवोकेट, वाइस चांसलर प्रयाग महिला विद्यापीठ, तथा श्री महादेव प्रसाद अग्रवाल, मन्त्री अखिल भारतीय अग्रवाल सेवा समिति को लिखा। इन लोगों ने कृपा पूर्वक हमें सूचित किया है कि उक्त प्रशस्ति के संस्थापक श्री हीरालाल के दत्तक पुत्र श्री मंदिर दास थे जिनके दो पुत्रियाँ श्रीमती बिट्टन बीबी और श्रीमती रज्जो बीबी तथा पुत्र चन्दन दास हुए। कन्यायें पहले मर गई थीं। चन्दन दास भी अभी हाल में आरा में मरे हैं, ये भी निःसन्तान थे। ये लोग निःसन्देह अग्रवाल थे और प्रयाग तथा आरा के अग्रवाल समाज में इनका बराबर खान-पान था। इनके परिवार के सम्बन्ध में वयोवृद्ध लाला जवाहर लालजी जैन द्वारा विशेष बातें मालूम हुईं। उनके कथनानुसार ये लोग बड़े वैभवशाली थे, जो समय की गति से निर्धन हो गए। श्री हीरालाल और श्री मंदिर दास ने भारत के अनेक जैन तीर्थों में मन्दिर बनवाये और मूर्तियाँ स्थापित की थीं।

हुई है, इसमें अग्रोतक निवासी वणिक का उल्लेख है,[१] एक

१—यह शिला लेख इस समय दिल्ली किले के संग्रहालय में (बी० ६ के नाम से) सुरक्षित है। उसकी प्रतिलिपि इस प्रकार है:—

स्वस्ति सर्वाभीष्टफलं यस्य परराधन तत्पराः
लभन्ते मनुजास्तस्मै गणाधिपतये नमः ॥ १ ॥
सत्पले नाम वः पातु सांतवन्यां वया सह
प्रसादाधस्य देवस्य भक्ताः स्युः सौख्यभाजनम् ॥ २ ॥
देशोस्ति हरियानास्य पृथिव्यां स्वर्गासिनमः
ढिल्लिकाख्यापुरी तत्र तोमरैरास्ति निर्मिता ॥ ३ ॥
तोमरान्तरं यस्या राज्यं निहत कंटकं
चाहमाना नृपाश्चकुः प्रजापालन तत्पराः ॥ ४ ॥
अथ प्रताप दहन दग्धारि कुलकाननः
म्लेच्छ सहावदीनस्तां बलेन जगृहे पुरीं ॥ ५ ॥
ततः प्रभृति मुक्ता सा तुरष्कैयविदद्यपूः
श्री महंमद शादिस्तां याति संप्रति भूपतिः ॥ ६ अपि च ॥
तस्यां पुर्यस्ति वणिजामग्रोतक निवासिनां
वंश श्री साचदेवाख्य साधुस्तत्रादपद्यत ॥ ७ ॥
लक्ष्मीधरस्तत्रनयो वभूव लक्ष्मीधरांह्रिद्वय पद्म भृंग
देवद्विजाराधन निष्ठचित्तः समस्त भूतावन लब्ध कीर्तिः ॥ ८ ॥
लक्ष्मीधरस्तनयो कलिकालवाह्यावास्तामुभौ महिम.वारिनिधि सुरूपी
माहामिधो निपुण बुद्धिमूत्तदाद्यो धीकाख्य उत्तमयशा अनुजस्यतस्य ९
महाख्यस्या भवत्पुत्रो मेल्हा नाम मनोहरः
देवद्विज गुरुणां यः सदाराधन तत्परः ॥ १० ॥
श्रीधरस्यात्मजां वीरो नाम्नी भर्तृपरायणां
धीका विवह्यामास तस्या मास्तामुभौ ॥ ११ ॥

दूसरे मुहम्मद शाह कालीन शिलालेख से भी इस कथन का समर्थन होता है, उसमें भी 'अग्रोतक निवासिन वणिक' का उल्लेख है।[१]

ज्येष्ठस्तयो खेतल नामधेयः साधुत्व पाथोधिरनंतशीलः
पैतुक नामा च लघुः समस्त गुरु द्विजाराधन शीलचित्तः ॥ १२ ॥
अथै तयोः खेतल पैतलाख्यसाध्वीः सदाकीर्तन कर्म बुद्धाः
इयं शुभा सारबलाभिधानग्रामांत भूरध्यवतस्तस्य चित्तै ॥ १३ ॥
पितृणाम क्षय स्वर्ग प्रप्त्यै सन्तान वृद्धये
षेतल पैतलश्चैनं कारयामासतुः प्रहिं ॥ १४ ॥
वेदवस्वग्नि चंद्रांक संख्येद्दे विक्रमांकितः
पंचम्यां फाल्गुनसिते लिखितम् भौमवासरे ॥ १५ ॥
इन्द्रप्रस्थ प्रतिगणे ग्रामे सारबलेष्तु
चिरं तिष्ठतु कूपोयं कारकश्च सबांधवः ॥ १६ ॥
संवत १३८४ फाल्गुन शुदि ५ भौम दिने
—एपीग्रेफिका इण्डिका, भाग १, पृष्ठ ९३-९४।

१—Lasty he transcribed two fragmentry inscriptions in Benares College. The second belongs to the time of Muhammad Shah and mentions certain merchants of the *Agrotaka nivasin* (Agrawala).
—इन्डियन एन्टीक्वैरी, भाग १५, पृ० ३४३।

(यह निर्देश हमें डा० वासुदेव शरण अग्रवाल एम० ए०, पी० एच० डी० से प्राप्त हुआ था। इससे ज्ञात होता है कि यह शिलालेख बनारस कालेज में था। हमने इस सम्बन्ध में कींस कालेज के प्रिंसपल से पूछ-ताछ की। खेद है कि उसका पता न लगा सका, अन्यथा सम्भव है कुछ और ज्ञात हो सकता।)

एक तीसरे शिलालेख की सूचना हमें राय बहादुर महामहो-पाध्याय डाक्टर गौरीशंकर हीराचन्द जी ओझा की कृपा से प्राप्त हुई है। अलवर राज्य में माचेड़ी नामक एक प्राचीन ग्राम है। उस ग्राम के दक्षिण एक बावली है जो 'अग्रवालों की बावड़ी' के नाम से प्रख्यात है। उसमें शक संवत १८८०, विक्रमी संवत १५१५ वैशाख सुदि ६ बुधवार का, बहलोल लोदी के समय का एक शिलालेख है, यह लेख बहुत बिगड़ गया है परन्तु उसमें एक शब्द 'अग्रस्थान' स्पष्ट है जो अगरोहा का सूचक है। 'अग्रस्थान' के बाद विनिर्गत और फिर बावली बनाने वाले महाजन का नाम रहा होगा जो अब पढ़ा नहीं जाता। इससे भी 'अग्रस्थान' निवासी महाजन की जाति का पता नहीं लगता। इन शिलालेखों से यह स्पष्ट पता चलता है कि अग्रोहा वणिकों की बस्ती थी और १६ वीं शताब्दी तक उनमें अग्रवाल जैसी जाति का विकास नहीं हुआ था।

जाति सूचना का अभाव

इन पुरातात्विक प्रमाणों से स्वतन्त्र यदि 'अग्रवाल' शब्द पर ही ध्यान दिया जाय तो भी स्पष्ट ज्ञात होता है कि उसका विकास मुस्लिम काल में ही हुआ है। अग्रवाल शब्द के 'वाल' प्रत्यय की ओर यदि ध्यान दिया जाय तो ज्ञात होगा कि वह स्पष्ट रूप से उर्दू का प्रत्यय है। 'वाल' प्रत्यय का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, और न इसका कोई स्वतन्त्र अर्थ ही है। जब वह किसी संज्ञा के साथ प्रयुक्त होता है तो विशेषण का रूप धारण करलेता है। यथा-

मुस्लिम कालीन विकास

पानवाला, पत्थरवाला, मिठाई वाला, बनारस वाला, गयावाल, प्रयागवाल आदि, आदि।

जब 'वाल' प्रत्यय किसी जाति वाचक संज्ञा के साथ प्रयुक्त होता है तो उसका अर्थ व्यवसायी अथवा मालिक होता है, यथा-

'वाल प्रत्यय'

पानवाला, पत्थरवाला, मिठाईवाला घरवाला आदि। जब वह किसी व्यक्तिवाचक संज्ञा के साथ प्रयुक्त होता है तो उसका अर्थ निवासी होता है। यथा-गयावाल, प्रयागवाल, बनारस वाला आदि। स्मरण रखना चाहिये कि 'वाल' प्रत्यय उसी व्यक्तिवाचक संज्ञा के साथ प्रयुक्त होता है जो स्थानबोधक हो।

इस नियम के अनुसार यदि 'अग्रवाल' शब्द की समीक्षा की जाय तो हम देखेंगे कि अग्रवाल शब्द का प्रयोग पूर्व में अकेले

'अग्रवाल' शब्द का प्रयोग

नहीं होता था। वह जहां भी प्रयुक्त होता था वहां उसके साथ 'वैश्य' या 'बनिया' या 'बक्काल' शब्द अवश्य लगा रहता था, उसका उपयोग 'अग्रवाल वैश्य' अथवा 'अग्रवाल बनिया' अथवा 'क़ौम बक्क़ाल अग्रवाल' के रूप में होता रहा है। इससे ज्ञात होता है कि अग्रवाल शब्द मूलतः संज्ञा न होकर विशेषण है जो पीछे से विशेष्य के स्थान पर प्रयुक्त होने लगा और जाति वाचक संज्ञा बन गया। ऐसा होना व्याकरण सम्मत है। अस्तु-'अग्रवाल' शब्द में अग्र या तो व्यवसाय बोधक जातिवाचक संज्ञा है या फिर स्थान-बोधक व्यक्ति वाचक संज्ञा। तात्पर्य यह कि अग्रवाल शब्द का

अर्थ या तो 'अग्र का व्यवसायी' हो सकता है या फिर 'अग्र का निवासी।[1]

१—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने 'अग्रवाल' शब्द की व्युत्पत्ति 'अग्र + बाल' की है और अर्थ किया है 'अग्र' के बालक अर्थात् अग्रसेन के वंशज। (अगरवालों की उत्पत्ति, पृ० ५) उनकी यह धारणा अग्रसेन के अस्तित्व की कल्पना के कारण बनी थी, किन्तु उस अवस्था में भी उनकी यह धारणा गलत थी। यदि 'वाल' का शुद्ध रूप 'बाल' मान लिया जाय तो व्याकरण के अनुसार उनकी कल्पना के प्रति कोई आपत्ति नहीं हो सकती; किन्तु हिन्दी भाषा विज्ञान की दृष्टि से दन्त्योष्ठ्य 'व' के बदले ओष्ठ्य 'ब' का उच्चारण और लेख तो बहुत पाया जाता है किन्तु ओष्ठ्य 'ब' के बदले दन्त्योष्ठ्य 'व' का प्रयोग इस कथन के अतिरिक्त कहीं देखने में नहीं आता। (व्याकरणाचार्य पं० अम्बिका प्रसाद बाजपेयी—अग्रवाल वर्ष १, खण्ड २, संख्या ३, पृष्ठ ३५९) इसलिए 'अग्रवाल' शब्द 'अग्रबाल' नहीं हो सकता। यदि सामाजिक परम्पराकी ओर ध्यान दिया जाय तो भी यह कल्पना बिल्कुल निरर्थक प्रमाणित होता है। आज तक किसी भी व्यक्ति के वंशको सूचित करने के लिए उसके पिता या दादा या किसी भी पूर्वज का नाम लेकर यह कहते नहीं सुना गया है कि अमुक 'मोहनबाल' है अथवा 'कृष्णबाल' है। वंश परम्परा के बोधके लिए स्पष्ट रूप से 'वंशीय' या 'वंशी' शब्द का उपयोग किया जाता है या उसे अपत्य वाचक रूपमें परिवर्तित कर दिया जाता है।

स्व० कविवर श्रीजगन्नाथ प्रसादजी 'रत्नाकर' की कल्पना है कि 'अग्रवाल' शब्द 'अग्रपाल' से बिगड़ कर बना है। (अग्रवाल वर्ष १, खण्ड २, संख्या ३, पृ० ६५७) आपकी कल्पना है कि अग्रवाल किसी समय क्षत्रिय थे और सेना के अग्र भागकी रक्षा किया करते थे जिसकी वजह से अग्रपाल (Vanguard) कहलाते थे। आपकी धारणा का

यहां हमें एक बात ध्यान में रखना होगा कि अकेले अग्रवाल जाति ऐसी नहीं है जिसके नाम में 'वाल' प्रत्यय लगा हो। पालीवाल, ओसवाल, खंडेलवाल, वर्णवाल आदि अनेक जातियों के नाम में 'वाल' प्रत्यय का प्रयोग हुआ है। ये जातियाँ अपने नाम को स्थान बोधक मानती है। ओसवालों की अनुश्रुति है कि उनका प्रादुर्भाव ओस-

वाल प्रत्ययवाली जातियाँ

आधार अज्ञात है। हाँ, प्राकृत प्रकाश के 'पोवः' सूत्रसे 'प' का 'व' हो जाना सम्भव अवश्य है, किन्तु सेना सम्बन्धी प्राप्य प्राचीन् विवरणों में 'अग्रपाल, सरीखा कोई पद नहीं मिलता। इससे जान पड़ता है कि उन्होंने वर्तमान सैनिक शब्द वेंगार्ड (Vanguard) को देखकर ही अग्रपाल की कल्पना की होगी।

डा० वासुदेव शरण अग्रवाल की धारणा है कि 'अग्र' के साथ 'वलच्' प्रत्यय लगकर 'अग्रवाल' बना है। किन्तु यह धारणा भी केवल अनुमान मात्र ही है। 'वलच्' प्रत्यय का प्रयोग रज, कृषि, सुत और परिषद शब्दों में ही हो सकता है। (रजः कृत्यासुति परिषदो वलच–अष्टाध्यायी ५।२।११२) वार्तिक में उसका अन्य शब्दों के साथ प्रयुक्त होने का उल्लेख अवश्य है। यदि वार्तिक का मत स्वीकार कर 'अग्र' के साथ 'वलच्' प्रत्यय का प्रयोग किया जाय तो उसका रूप 'अग्रबलः' होगा। 'अग्रबल' का अग्रवाल हो जाना सम्भव नहीं जान पड़ता। अबतक कहीं भी किसी लेख या अभिलेख में इस शब्द का उपयोग जाति या समुदाय प्रमाण के रूप में नहीं हुआ है। यदि कहीं इसका प्रयोग होतो भी उसका प्रयोग वेंगार्ड (Vangaurd) के ही अर्थ में हुआ होगा है। अभाव में भी यदि थोड़ी देर के लिए मान लिया जाय कि प्राचीन काल में सेना में अग्रपाल अथवा अग्रबल सरीखा अंग हुआ करता था तो भी

नगर से है। खंडेलवालों की उत्पत्ति जयपूर राज्य के खंडेल-नगर से हुई है।[१] पालीवालों का जोधपुर के पल्लीनगर से सम्बन्ध है। इससे जान पड़ता है कि 'अग्रवाल' शब्द भी अपने जाति के मूल निवास का ही बोधक है। इसकी पुष्टि बेलदार, भाटिया, छीपी, केवट, कंजर, कुम्हार, मल्लाह, मोची और पटवा नामक जातियों में पायी जाने वाली 'अग्रवाल' नामक उपजाति से होती है।[२] इन व्यवसाय बोधक जातियों में 'अग्रवाल' नाम से

यह समझना कठिन है कि वे किस प्रकार वैश्य होगये और अपना कर्म व्यवसाय निर्धारित किया। किसी भी सैनिक समूह का व्यवसाय की ओर आने का अबतक कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इसके विपरीत वैश्य समूह के सैनिक बन जाने का उल्लेख प्राप्य है। मध्य और पारवर्ती काल में बहुत से वैश्योंने युद्ध क्षेत्र में जाकर अपनी वीरता का प्रदर्शन किया था और आज उन वैश्यों की सन्तान बैसराजपूतों के नाम से प्रसिद्ध है। (सी० वी० वैद्य-हिस्ट्री आफ मिडिवल हिन्दू इण्डिया, भाग १, पृ० ७३)

१—रायबहादुर, महामहोपाध्याय, डाक्टर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा से हमें सूचना मिली है कि अलवर राज्य में माचेड़ी नामक स्थान पर 'खंडेलवालों की बावली' नाम से एक बावली है, जिसमें विक्रमीय संवत १४३९, शक १३०४, वैशाख शुदि ६ रविवार का सुल्तान फीरोज-शाह और उनके सामन्त गोगदेव के समय का एक लेख मिला है जिसमें 'खंडेला निकासाय' अर्थात् 'खंडेला से निकले हुए' शब्द लिखा है।

२—डब्लू० क्रूक-ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स आव दि एन० डब्लू० पी० एण्ड अवध; इन जातियों सम्बन्धी अध्याय।

पायी जाने वाली उपजाति यह स्पष्ट करती है कि ये सब जातियाँ कभी एक साथ रहती थीं जो कालान्तर में बिखर गईं।

अजमेर अग्रवाल सभा के मंत्री श्री रामचन्द्र अग्रवाल (सन् १८९०-९१) [१] तथा डब्ल्यू० क्रूक[२] ने लिखा है कि जो वैश्य अगर बेचते थे अग्रवाल कहलाए इस कथन का कोई उपहास भले ही करे, पर इस कल्पना को तथ्य-हीन कहना सहज नहीं है। आज अनेक जातियां ऐसी है, अनेक अल्ल ऐसे है जो व्यवसाय के नाम पर पुकारे जाते है। लोहार, चमार, तेली, नोनिया, लोनिया, हलवाई आदि साधारण जातियों के अतिरिक्त उच्च वर्ग के वैश्य भी अपने व्यवसाय के नाम पर पुकारे जाते है। यथा—कापड़िया, चामड़िया, पत्थरवाले। इसी प्रकार अगर बेचने वाले वैश्यों के अग्रवाल नाम से पुकारे जाने की कल्पना की जा सकती है। हो सकता है अग्रवाल जाति पूर्व में अगर का व्यवसाय करती रही हो।

अगर विक्रेता

वैदिक काल से लेकर बौद्ध काल और उसके पीछे भी काफी समय तक यज्ञ का बहुत ही महत्व था, वह एक श्रेष्ठ धार्मिक कृति समझा जाता था। आठवीं शताब्दी तक अग्निहोत्र ब्राह्मणों का परम धर्म था और उनके यहाँ दिन रात अग्नि कुण्ड जलते रहने के पर्याप्त निर्देश

अगर का व्यवसाय

१—अग्रवाल उत्पत्ति।

२—डब्ल्यू० क्रूक—ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स आव दि एन० डब्ल्यू पी० एण्ड अवध, भाग १, पृ० १४।

प्राप्य है। ऐसी अवस्था मे यह अनुमान करना कि अगर (चन्दन) का व्यवसाय बहुत उन्नति पर रहा होगा अनुचित न होगा।[१] कौटिल्य के अर्थशास्त्र से निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि उस समय अगर की लकड़ी का व्यवसाय बहुत जोरों पर था और वह वणिक जातियों द्वारा बहुत बड़े पैमाने पर देश और विदेशों में लेजाई जाती थी। वैश्य जाति के बहुत से लोग इसी अगर के व्यवसाय से जीविका निर्वाह करते थे, इस अगर के लाने के लिए उन्हे दूर देश में जाना पड़ता था। अलक्सान्दर के आक्रमण से पूर्व काश्मीर और पंजाब में वे यही व्यवसाय करते थे, और उन्हें पश्चिमोत्तरवासी होने पर भी अगर संग्रह के लिए पूर्व भारत के प्रान्तों, यहां तक कि समुद्र के उस पार, तक आवागमन करना पड़ता था, ऐसी अवस्था में यदि अनुमान किया जाय कि अगर व्यवसायियों ने भी अपनी एक श्रेणि बना रक्खी होगी तो अनुचित न होगा। बौद्ध जातकों मे काष्ट व्यवसायियों की श्रेणि का उल्लेख तो पाया ही जाता है।

अग्रवाल जाति का सम्बन्ध इस कल्पना से किसी प्रकार जोड़ा जा सकता है या नहीं, यह निश्चयात्मक रूप से तो नहीं कहा जा सकता। किन्तु, उसके मूल में गण होने का आभास इस जाति में प्रचलित किंवदन्तियों से भी होता है। जोधपूर के मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट में किंवदन्तियों के आधार पर अग्रवाल जाति का जो संक्षिप्त

१—डब्लू कूक-ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स आव दि एन० डब्लू० पी० एण्ड अवध, भाग १, पृष्ठ १५।

विवरण दिया है उसके अनुसार-"अग्रसेन के वक्त वह दिल्ली के बादशाह थे और जब तबरों की बादशाही हुई तो उनके वज़ीर हुए, पिछला राजा जब तीर्थ को जाने लगा तो वज़ीर से कह गया कि पीछे आऊँ तब तक तू तख्त पर बैठ कर राज्य करना, वह ऐसा ही करने लगा। अग्रवालों ने यह देख कर कहा-'भाई साहब तख्त पर तो हम भी बैठेंगे क्योंकि 'अग्रवाला सब ठुकराला, मूंग मोठ में कौन बड़ाला'। आखिर तख्त पर बैठने के लिए नौ आदमी चुने गये।[१] ऐतिहासिक विवेचन से यह नौ आदमियों का निर्वाचन गण-शासन का समर्थन करता ज्ञात होता है। इस बात का और अधिक समर्थन उस किंवदन्ती से होता है जिसके अनुसार कहा जाता है कि अगरोहे में सवा लाख घर थे, अगर उनमें कोई गरीब होजाता था या कोई नया व्यक्ति आजाता था तो उसको एक ईंट और एक एक रुपया देकर अपने समान बना लिया जाता था।

किंवदन्तियाँ

अभी १९३८ के शरदृऋतु में भारतीय पुरातत्व विभाग की ओर से अगरोहे के कुछ टीलों की खुदाई हुई, जिसमें ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी की कुछ ताम्र मुद्रायें प्राप्त हुईं[२]

'आग्रेय' जनपद

१—श्री विष्णु अग्रसेन वंश पुराण [जीर्णोद्धार खंड], पृष्ठ २६।

२—इसी ढंग की कुछ मुद्रायें इससे पहले श्रीयुत राजर्स को अगरोहा से कुछ पूरब बरवाला नामक गांव में मिली थीं जो इस समय लंदन के बृटिश म्युज़ियम में हैं। (एलन-केटालाग आव द इण्डियन कायन्स इन बृटिश म्युज़ियम पृष्ठ २८२-४; इन्ट्रोडक्शन पृ० ११७।)

आग्रेय गण की मुद्रायें

[फलक ३
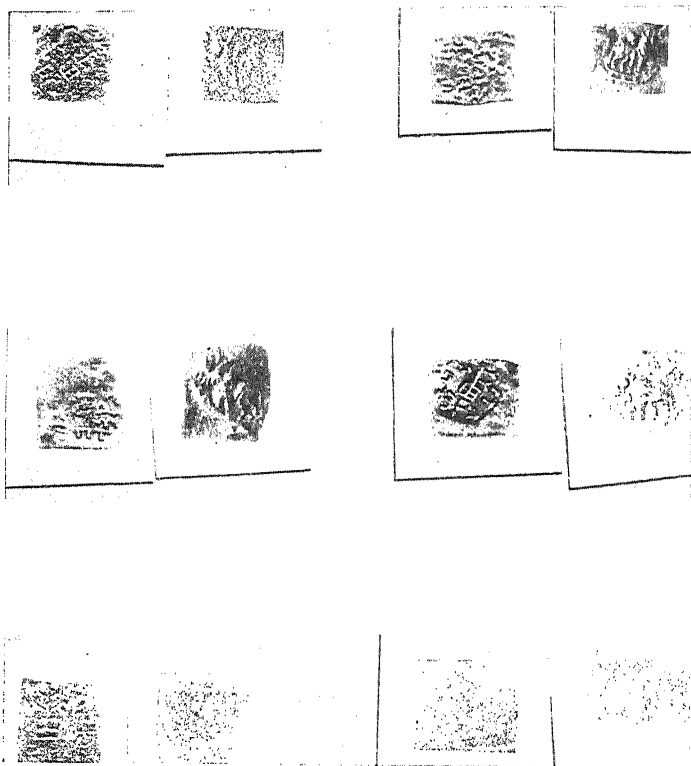
[पृ० ११३

जिनसे ज्ञात होता है कि वहां 'आग्रेय' नामक एक जनपद था[1]।

इसी प्रकार की एक मुद्रा कनिंगहम को भी मिली थी। राजर्स द्वारा प्राप्त मुद्रायें गोल हैं। उसमें सामने की ओर बाढ़ के भीतर पेड़ और नीचे अभिलेख तथा पीछे की ओर साड़, सिंह या लक्ष्मी का चित्र है। अगरोहा से मिली मुद्रायें चौकोर हैं, अन्यथा बाकी बातें बरवाला वाली मुद्राओं के समान ही हैं। इन दोनों प्रकार की मुद्राओं पर द्वितीय शताब्दी ई० पू० के ब्राह्मी लिपि में 'अगोदके अगाच जनपदस' लिखा है। कुछ मुद्राओं पर अगोदक और अगाच संधि द्वारा संयुक्त है।

इन मुद्राओं का अभिलेख राजपूताना के चित्तौड़गढ़ के निकट नागरी से मिले मुद्राओं के लेख 'मझिमिके शिबि जनपदस' (कनिंघम–आर्कोलाजिकलसर्वे रिपोर्ट भाग ६, पृ० २०३) के ठीक अनुरूप है। इन मुद्राओं का शिबि नामक जनपद से सम्बन्ध है। शिबि नामक जनपद या गण अलक्सान्दर के आक्रमण के समय पंजाब में अगलस्सोई (आग्रेय) के पड़ोस में रहता था। उस समय उसकी राजधानी का नाम शिबिपुर (आधुनिक शोरकोट) था (जर्नल आव द पंजाब हिस्टारिकल सोसाइटी भाग १, पृ० १७४) किन्तु पश्चात १५०–१०० ई० पू० वे लोग राजपूताना चले आए और माध्यमिका (मझिमिका–आधुनिक नगरी) को अपनी राजधानी बनाया। अस्तु नागरी वाले लेख का तात्पर्य है—शिबि नामक] जनपद के मझिमिका [नामक राजधानी] की [मुद्रा।] इसीके अनुकरण पर अगरोहा के मुद्रा लेखका तात्पर्य है—अगाच [नामक] जनपद के अगोदक [नामक राजधानी] की [मुद्रा]।

१—अगोदक स्थित जनपद का नाम अगाच था यह ऊपर वाले नोट से स्पष्ट है। 'अगाच' संस्कृत आग्रेय का प्राकृत रूप है। हम देखते हैं कि अगोदक और अगाच का सम्बन्ध उसी ढंग का है जिस ढंग का शिबि और शिबिपुर का, अन्तर केवल इतना है कि वहां स्थान के नाम

'जनपद' का तात्पर्य

डाक्टर काशी प्रसाद जायसवाल ने अपनी पुस्तक 'हिन्दू राजतन्त्र' में जनपद शब्द का तात्पर्य ऐसा देश या राज्य बताया है जो राजनैतिक दृष्टि से सर्वथैव स्वतन्त्र हो और किसी के आधीन न हो,

---

को 'पुर' से व्यक्त किया गया है और यहां 'उदक' से। इसका कारण नोट ३ पृ० ९९ में स्पष्ट किया गया है। अस्तु, स्पष्ट है कि अगोदक और अगाच का पूर्वांश 'अग' एक ही वस्तु को व्यक्त करता है और वह है 'अग्र' क्योंकि अग्रोदक का संस्कृत रूप अग्रोदक बताया जा चुका है। यह 'अग्र' जन का नाम है और उसी के आधार पर जनपद का नाम पड़ा है।

प्राकृत अभिलेखों में देखा गया है कि वर्ण का द्वित्व रूप बहुधा व्यंजन के एक रूपमें ही लिखा जाता है और पूर्व का ह्रस्व वर्ण दीर्घ कर दिया जाता है, इस नियम के अनुसार 'अगाच' का शुद्ध रूप 'अगच्च' या 'अग्गच्च' होगा। स्व० पं० हरगोविन्ददास जी सेठ ने अपने प्राकृत कोष पाइअ-सद्द-महण्णवो में अग्गिच्च शब्द का संस्कृत रूप 'आग्नेय' व्यक्त किया है। (पृष्ठ २२) 'अग्गि' का संस्कृत रूप 'अग्नि' (पृष्ठ२१) और 'अग' या 'अग्ग' का 'अग्र' (पृष्ट २०) होता है, इस प्रकार स्पष्टतया अगच्च का संस्कृत रूप 'आग्रेय' होगा। प्राकृत में संस्कृत प्रत्यय 'एय' का रूप 'ज्ज' हो जाता है। यथा—अक्रेय = अकिज्ज, अनादेय = अनिज्ज, अज्ञेय = अगिज्ज, कौशेय = कौसेज्ज, धेय = धिज्ज आदि, आदि। इस नियम के अनुसार 'आग्रेय' का प्राकृत रूप 'अगज्ज' और ऊपर कथित नियम लागू होने पर उसका रूप 'अगाज' होगा। प्राकृत में कहीं कहीं 'ज' के स्थान पर 'च' का भी प्रयोग होता है ('चोबृज नृत्याः'—प्राकृत मंजरी।) अस्तु इसके अनुसार 'अगाच' का रूप 'आग्रेय' होगा।

अगाच के संस्कृत रूप के सम्बन्ध में डाक्टर एल० डी० वार्नेट का मत है

यह एक प्रकार के राष्ट्र अथवा राजनैतिक समाज होते

कि वह अग्रात्य या अग्रात्त्य का रूप है (बुलेटिन आव द् स्कूल आव ओरियन्टल स्टडीज़ भाग १० पृ० २७९ ।) श्रीयुत एलन उसे अगत्य का रूप मानते हैं। पुरातत्व विभाग के डाइरेक्टर जनरल राव बहादुर काशी नाथ दीक्षित का कहना है कि वह अगस्त्य का रूप है। (प्रोसीडिंग्ज़ आफ दि एन्युएल मीटिंग [१९३९] आफ दि न्युमिस्मेटिक सोसाइटी आफ इन्डिया ।) आपकी धारणा है कि जिस प्रकार दक्षिण के राज्यों का नामकरण राजाओं के नाम पर हुआ है उसी प्रकार सम्भव है कि हरियानक प्रदेश (अगरोहा के आस पास का देश) किसी अगस्त्य नामक शासक के नाम पर रक्खा गया हो । अगस्त्य दक्षिण के एक प्रख्यात पौराणिक ऋषि हो गए हैं, वे उपनिवेश निर्माता के नाम से भी विख्यात हैं किन्तु उत्तर से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है इस कारण आपकी कल्पना है कि सम्भव है उसे अगस्त्य मित्र नामक किसी राजा ने बसाया हो। आपने यह कल्पना बरवाला से मिली कुछ मुद्राओं पर अंकित 'अगाचमित्र' को देख कर किया है।

इन विद्वानों की धारणायें भाषा विज्ञान की दृष्टि से उतनी ही पुष्ट कही जा सकती है जितना कि मेरी, किन्तु उनके कथन के लिए न तो कोई जनश्रुति है और न कोई दूसरा ऐतिहासिक प्रमाण। अगरोहा सम्बन्धी अनुश्रुतियों में अगस्त या अगस्त्यमित्र का कोई स्थान नहीं है। इसलिए केवल कल्पना के आधार पर स्थापित बात मान्य नहीं हो सकती इसके विपरीत हमारी धारणा दोनों रूप से पुष्ट होती है। इसलिए अगोच निसन्देह आग्रेय है। हमारे इस अनुमान को रायबहादुर महामहोपाध्याय डाक्टर गौरी शंकर हीरा चन्द ओझा ने भी अपने एक पत्र में उचित माना है। डाक्टर पन्नालाल आई० सी० एस०, (चीफ एडवाइज़र संयुक्त प्रान्त) (मुद्रातत्व सम्मेलन [१९४०] में सभापति पद से दिया गया भाषण) तथा श्री वासुदेव शरण अग्रवाल एम० ए० क्युरेटर, प्रान्तीय

थे [१]। जनपदों का नामकरण जन से होता था। जन निवासियों को सूचित करता था और जनपद उनके रहने के देश को, भूमि को। ऐसे प्रजातन्त्रों अर्थात् जनपदों का निर्देश पंजाब में पर्याप्त संख्या में प्राप्त है जिनमें शिबि, महाराज, राजन्य आदि प्रमुख हैं। उन्हीं की तरह इन मुद्राओं से जान पड़ता है कि अगरोहा में जो जनपद था उसका नाम आग्रेय था। इसके आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि जन का नाम अग्र रहा होगा।

महाभारत के वन पर्व में कर्ण के दिग्विजय प्रकरण में लिखा है कि कर्ण ने पच्छिम की ओर विजय यात्रा करते हुए जिन विविध राज्यों को पराजित किया उनमें एक आग्रेय नामक गण भी था जो भद्र से आगे रोहितक और मालव गणों के बीच में था। [२]

संग्रहालय, लखनऊ (अग्रवाल हितैषी [आगरा] वर्ष ३ अंक ७ पृ० ३) इस बात को स्वीकार करते हैं कि 'अगाच' का सम्बन्ध 'अग्र' से ही होना चाहिए।

१—डाक्टर काशी प्रसाद जायसवाल : हिन्दू राजतन्त्र पृ० १२३-१२४।

२—मद्रान् रोहितकांश्चैव आग्रेयान् मालवान् अपि।
गणान् सर्वान् विनिर्जित्य नीतिकृत् प्रहसन्निव॥
महाभारत वनपर्व—२५५: २०

डाक्टर सत्यकेतु विद्यालंकार ने अपनी पुस्तक अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास में उपर्युक्त श्लोक को उद्धृत करके आग्रेय नामक गण का उल्लेख किया है। आपका यह भी कहना है कि कुछ छपी हुई पुस्तकों में विशेष तथा कलकत्ता संस्करण में आग्रेय की जगह आग्नेय पाठ है।

भद्र, रोहितक और मालव पंजाब के सुप्रसिद्ध गण रहे हैं,

कलकत्ता संस्करण की नकल से पीछे से छपे हुए महाभारत के बहुत से अन्य संस्करणों में भी आग्नेय पाठ दिया हुआ है, आग्रेय नहीं। पर निर्णय सागर बम्बई की महाभारत में तथा पुराने छपे अन्य संस्करणों में आग्रेय पाठ है। मोनियर विलियम्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी में यही पाठ दिया है। यही पाठ शुद्ध है आग्नेय की इस जगह कोई संगति नहीं बैठती। (पृष्ठ ५८।)

इसी सम्बन्ध में खोज करते समय मुझे वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकांड में भरत के केकय से अवध पुनरागमन के मार्ग वर्णन में निम्न श्लोक मिलाः—

ह्रादिनीं दूरपारां च प्रत्यक स्रातस्तरंगिणीम्
शतद्भतरच्छ्रीमान्नदीभिक्ष्वाकु नन्दनः।
ऐलधाने नदीं तीर्त्वा प्राप्य चापर्वतान
शिलाभाकुर्वतीं तीर्त्वा आग्नेयं शत्यकर्षणम्॥ सर्ग ७१ श्लोक

कुछ टीकाकारों ने इसमें आए हुए आग्नेय शब्द का तात्पर्य आग्नेय दिशा से लिया है पर अन्य ने उसे एक ग्राम माना है जो शत्यकर्षण के निकट था। इसके अनुसार आग्नेय की स्थिति शतद्रु (आधुनिक सतलज) पार करने के बाद पड़ती है, इस लिए मेरे मन में कल्पना उठी कि सम्भव है महाभारत और रामायण का तात्पर्य एक ही स्थान से हो और महाभारत की तरह इसमें भी पाठभ्रम हो 'न' और 'र्' का एक दूसरे के लिए लिखा जाना कोई कठिन नहीं वरन सामान्य सी बात है। इसलिए मैंने अपनी कल्पना का उल्लेख श्री वासुदेव शरण जी अग्रवाल से किया। वे मेरे अनुमान से सहमत हैं किन्तु उनका कहना है कि जब तक रामायण के किसी पाठ में आग्रेय पाठ न मिले यह विचाराधीन रहेगा। इसी लिए हमने इसका उल्लेख पुस्तक में प्रधान रूप से नहीं किया है। पाठकों के

इनका पंजाब के इतिहास में अपना विशेष महत्व है। रोहितक आज भी रोहतक नाम से कुछ दूर दक्षिण पूर्व और भद्र उससे कुछ दूर पच्छिम वर्तमान है। मालव रावी नदी के निचले काँठे में कोट कभालिया के पास था। आज भी पूर्वी पंजाब में मालवा नाम का एक प्रदेश है जो सतलज से दक्षिण है, जिसमें फीरोज़पुर और लुधियाना ज़िले और पटियाला, नाभा रियासतों का कुछ अंश गिना जाता है।[१] इसके आधार पर निर्विवाद कहा जा सकता है कि यह आग्रेय गण भी वही था जिसका पता मुद्राओं से लगता है।

यवन लेखक

यवन लेखकों के वृतान्त से ज्ञात होता है कि अलवसान्दर के आक्रमण के समय (३३० ई० पू०) मालव और क्षुद्रक नामक प्रजातन्त्रों के पास शिवि गण से पूर्व अगलस्सोई (Agalassoi) नामक एक समृद्धिशाली प्रजातन्त्र था। इसके नाम को यवन लेखकों ने अपने अपने तरीके पर भिन्न भिन्न उच्चारण और रूप में Agalassei, argesinae, agesinae, acensoni, agresinae, agiri आदि

लिए खोज की वस्तु है, वे इसकी जानकारी प्राप्त करें। इसकी पहचान आग्नेय या आग्रेय रूप में, बहुत कुछ शल्यकर्षण की पहचान पर निर्भर करती है। महाभारत के आग्रेय के सम्बन्ध में आपका कहना है कि उसके सम्बन्ध में तब तक निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता जब तक इनका संशोधित पाठ प्रकाशित न हो।

१—जयचन्द विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा भाग २ पृ०।

लिखा है।[१] डाक्टर वार्नेट ने अगलस्सोई शब्द का प्राकृत नाम अग्गल को युनानी लिपि में लिखने का प्रयत्न माना है।[२] 'अग्गल' 'आग्रेय' का ही एक अन्य प्राकृत रूप है यह तो किसी भाषा वैज्ञानिक को मानने में संकोच हो ही नहीं सकता।[३] हम ऊपर कह चुके हैं कि मालव अगरोहा अथवा उसके आसपास की भूमि से बहुत दूर नहीं था। शिबि गण के लोग झंग जिले के शोरकोट (प्राचीन शिविपुर) के आस पास निवास करते थे और सम्भवतः झंग के दक्षिण पूर्व भी बहुत दूर तक फैले हुए थे। यवन लेखकों के वर्णन से ज्ञात होता है कि अलक्सान्दर काल में ये दोनों

१—मक क्रिन्डल : इनवेज़न आफ इन्डिया बाई अलक्ज़ेन्डर द ग्रेट पृ० ३६७।

२—बुलेटिन आव द स्कूल आव ओरियन्टल स्टडीज़ भाग १० पृ० २८२।

३—अग्गल और आग्रेय के साम्य के अतिरिक्त इस बात की पुष्टि एक अन्य प्रमाण से भी होती है। बौद्धग्रन्थ विनय पिटक (२, ३००) में वैशाली की सभा से पूर्व रैवत के सौरैया से सजाति जाने के मार्ग में अग्गल-पुर नामक एक स्थान का उल्लेख हुआ है। इस अग्गलपुर के सम्बन्ध में मोशियो प्रज़ुलस्की की धारणा है कि वह अग्रोद या अग्रोदक का ही दूसरा नाम है। आपने इस कथन की पुष्टि किस प्रकार की है इसका मुझे स्वतः ज्ञान नहीं है क्योंकि मैंने उस लेख को पढ़ा नहीं है। डाक्टर बार्नेट ने अपने लेख में उसका उल्लेख किया है और अपने स्वतन्त्र विचारों से उस मत की पुष्टि की है। (बुलेटिन आव द स्कूल आव ओरियन्टल स्टडीज़ भाग १० पृष्ठ २७८।)

(शिबि और अगलस्सोई) बहुत बड़े प्रजातन्त्र थे। इससे जान पड़ता है कि वे दोनों अवश्य ही बहुत दूर तक फैले रहे होंगे। अगरोहा से रावी के किनारे तक, जो झंग से पूर्व स्थित लायलपुर की पूर्वी सीमा है, कुल १७० मील की दूरी है। इससे सुगमता से अनुमान किया जा सकता है कि झंग और हिसार दोनों के बीच का मान्टगोमरी जिला दोनों के बीच बँटा रहा होगा।[१] इससे स्पष्ट अनुमान किया जा सकता है कि यवन लेखकों का अगलस्सोई यही अगरोहे वाला आग्रेय था।

रेनेल का अनुमान

प्राचीन रोमन लेखक प्तालीमाय ने भारतवर्ष के भूगोल का वर्णन करते हुए Agara नाम के एक स्थान का उल्लेख किया है।[२] यवन लेखकों का Agiri और यह Agara सम्भवतः एक ही नाम के उच्चारण भेद से दो रूप हैं जो सम्भवतः 'अग्र' का ही रूप है। १८ वीं शताब्दी के अन्त के योरोपीय भूगोलवेत्ता रेनेल ने Agara का अगरोहे से सामन्जस्य स्थापित किया है[३]।

युनानी लेखक डायोडीरस के कथनानुसार इस जाति (अगल-

१—बुलेटिन आव द स्कूल आव ओरियन्टल स्टडीज़ भाग १० पृ० २८२।

२—मक क्रिन्डल, एन्शियन्ट इन्डिया ऐज़ डिस्क्राइब्ड बाई प्तालीमाय पृ० १५४।

३—जे० रेनेल, मैप आफ हिन्दोस्तान पृ० ६५।

स्सोई) ने ४०००० पैदल और २००० घुड़सवारों की सेना एकत्र की थी। वे अपनी तंग गलियों में जम गए थे और बहुत ही वीरता पूर्वक लड़े थे, जिसके कारण अलक्सान्दर को आक्रमण करते हुए आगे बढ़ने में अपने कुछ सैनिकों के प्राण गवाने पड़े थे।[१]

अलक्सान्दर से युद्ध

दूसरे रोमन लेखक क्विन्तिये कर्तिये का कथन है कि जब वे वीर लोग (अगलस्सोई) अपने विकट आक्रमणकारियों को रोक न सके तब उन लोगों ने अपने घरों में आग लगाकर अपनी स्त्रियों और बच्चों को मार डाला[२]।

ठीक इसी प्रकार की एक किंवदन्ती अग्रवाल जाति में भी प्रचलित है। उसके अनुसार कहा जाता है कि अलक्सान्दर ने अगरोहे पर ग्यारह बार आक्रमण किया था। अन्तिम आक्रमण के समय घोर घमासान युद्ध हुआ, दोनों पक्ष के बहुत से लोग मारे गये। युद्ध समाप्ति पर मृत सैनिकों की पत्नियाँ तत्कालीन प्रथा के अनुसार सती हो गईं।[३] यदि दोनों कथनों को हम एक ही घटना की ओर निर्देश मान लें तो कहना होगा कि हमारी

किंवदन्ती में उल्लेख

१—मक क्रिन्डल, इनवेज़न आफ इन्डिया बाई अलक्ज़ेन्डर द ग्रेट पृ० २८५।

२—वही पृ० २३२।

३—श्री विष्णु अग्रसेन वंश पुराण [भूत खंड] पृ० ४६ ५२, महाराज अग्रसेन का जीवन चरित्र पृ० २७ ३४।

किंवदन्तियों से भी अगरोहा में आग्रेय नामक गण के होने का आभास निहित है, और वहां गण के होने में कोई सन्देह नहीं है। आज उसी के वंशजों की संतान यह अग्रवाल जाति है।

गण राज्यों के विकास के सम्बन्ध में डाक्टर सत्यकेतु विद्यालंकार ने प्रस्तुत पुस्तक की मूल पांडुलिपि में एक नोट दिया है, उसमें आपने बताया है कि गण राज्यों (ग्रीक

अग्रश्रेणी

Polls उसका अंग्रेज़ी अनुवाद City states) का इतिहास पढ़े तो ज्ञात होगा कि उसकी स्थापना विशिष्ट पुरुषों द्वारा ही की गई। प्रायः सभी गण पहले राजयुत (Monarchical) होते थे बाद में वे प्रजातन्त्रात्मक (Republican) हो गए। कुछ एरिष्टोक्रैटिक और कुछ डेमोक्रैटिक, कुछ में पुनः राजतन्त्र हुआ और कुछ प्रजातन्त्र रूप में ही जारी रहे। भारत में भी यही रहा। कोशल गण पहले रामायण, महाभारत, शैशुनाग काल में, राजतन्त्र था पीछे कौटिल्य के समय में प्रजातन्त्रात्मक हुआ। यही बात अन्य गणों के सम्बन्ध में हुई। आग्रेय गण भी पहले राजायुत था। इसकी स्थापना पैत्रिक रूप में अग्रसेन द्वारा हुई थी। उसमें उसके वंशज राज्य करते थे। यह भी ध्यान रहे कि अनेक गणों में सदा ही राजा का राज्य रहा। आपने इन्हीं बातों का आश्रय अपनी पुस्तक अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास में भी लिया है [1] और किंवदन्तियों और अनुश्रुतियों के

१—पृष्ट ६२।

अग्रसेन को ऐतिहासिक व्यक्तित्व देने के लिए अगलस्सि (अगलस्सोई) को अग्रसैनीय का रूप बताने की चेष्टा की है। उनकी यह धारणा नितान्त भ्रमात्मक है। डाक्टर बार्नेट ने बहुत ही पुष्ट प्रमाणों से बताया है कि वह 'अग्गल' का रूप है जो 'आग्रेय' के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि विद्यालंकार जी का कथन ही माना जाय तो मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच न होगा कि वह अग्रसैनीय का रूप न होकर अग्रश्रेणी का रूप है। डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल ने अपनी पुस्तक हिन्दू राजतन्त्र में अगलस्सोई के दूसरे रूप अगिसिनेयि (Agesinae) को अग्रश्रेणी माना है।[१] यद्यपि वे अग्रश्रेणी की उचित पहचान नहीं कर पाये हैं फिर भी उनकी धारणा सत्य के अधिक निकट है।

पाणिनि के अष्टाध्यायी से अग्र नामक एक जन समुदाय का ज्ञान होता है।[२] श्रेणि के सम्बन्ध में हम पहले कह आये हैं कि

१—वही पृष्ट १४४।

२—डाक्टर सत्यकेतु विद्यालंकार ने अपनी पुस्तक में अष्टाध्यायी के गोत्रापत्य प्रकरण में आये अग्र, और उसके विविध रूप अग्रि, आग्रेय और आग्रायण का उल्लेख करते हुए निम्न उद्धरण दिए हैं:—

(१) नडादिभ्य, फक् सूत्र में नडादि गण के अन्तर्गत अग्र शब्द भी है, जिससे विविध गोत्रापत्य अर्थों में आग्रेय, आग्रायण आदि शब्द बनते हैं। ४: १: ९९।

(२) शरद्वक्नुक् दर्भात् भृगु वत्साग्रायरोषु। ४: १: १०२।

इन उल्लेखों के अतिरिक्त हमें श्री वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा ज्ञात हुआ है कि बौध्यायन के महाप्रवर काण्ड में भी निधव कश्यपों के अन्तर्गत

श्रेणि

वह प्रत्येक शिल्प या व्यवसाय में लगे हुये व्यक्तियों का समूह था, जिसका अपने सदस्यों पर पूरा अनुशासन था वही उनके लिए नियम बनाती, उन नियमों को चलाती तथा न्यायालयों का काम करती। अपने मामले में उन्हें पूरी स्वायत्तता थी। इस प्रकार की श्रेणि का आविर्भाव भारतीय इतिहास में पहले पहल आठवीं सातवीं शताब्दी ईसा पूर्व में दीख पड़ता है। मौर्यकाल में हम उसको और भी विकसित रूप और उन्नति अवस्था में पाते हैं। उस काल में उनकी सामाजिक एवं आर्थिक महत्ता के साथ साथ उनकी राजनैतिक सत्ता भी देखने में आती है। पाणिनि का समय ५ वीं शताब्दी ई० पू० अनुमान किया जाता है। वह तक्षिला का निवासी था। इस कारण

आग्रायण आया है। यास्क में आग्रायण नामक एक आचार्य की सम्मति का उल्लेख पाया जाता है—"इन करणादिति आग्रायणः।"

डाक्टर काशी प्रसाद जायसवाल ने पाणिनि के अष्टाध्यायी के आधार पर बहुत से गण राज्यों की सत्ता सिद्ध की है और श्री वासुदेव शरण अग्रवाल ने, जिन्होंने पाणिनि का विशेष अध्ययन किया है, बताया है कि गोत्रों में कुछ वर्तमान जातियों और प्राचीन स्थानों के नाम छिपे हैं। यदि हम नडादि गण के अन्तर्गत आए हुए शब्दों को देखें तो ज्ञात होगा कि अग्र शब्द के साथ-साथ युगान्धर, उदुम्बर, पंचाल आदि का भी उल्लेख है जिनका अस्तित्व इतिहासों में स्पष्ट रूप से जाति अथवा समुदाय के रूप में ज्ञात होता है। इसलिए आग्रायण, आग्रेय, अग्रिः आदि शब्दों का सम्बन्ध अग्र नामक जाति या समुदाय से है और यह सम्भवतः वही जन रहा होगा जिसका जनपद आग्रेय था।

उसे अग्रोहा स्थित अग्र जन समुदाय का पता होगा जो अलक्सान्दर के समय श्रेणि से विकसित एक गण रहा होगा।

ईसा शताब्दी पश्चात् भारतवर्ष में प्रजातन्त्रात्मक सत्ता का एक प्रकार से लोप हो गया और एकतन्त्र राज्य की स्थापना हुई।

अग्रश्रेणि से अग्रसेन

इस कारण इसके पश्चात् गण राज्यों का विशेष उल्लेख नहीं मिलता। इसलिए बहुत सम्भव है कि लोग समयान्तर में गणतन्त्र के विनाश के पश्चात् एकतन्त्र की स्थापना होने पर गण व्यवस्था को भूल गये हों जो अवश्यम्भावी है। ऐसी अवस्था में गण सूचक अग्रश्रेणी शब्द शासक विशेष का बाधक समझ लिया गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं और पश्चात् वही शब्द धीरे-धीरे अग्रसेन के रूप में प्रचलित होकर शासक विशेष का नाम समझा जाने लगा होगा। फिर भाट लोगों ने इसी अग्रसेन के वंशावली की कल्पना की होगी और उसे ऐतिहासिक व्यक्ति का रूप दे दिया गया होगा। भाषा विज्ञान की दृष्टि से 'अग्रश्रेणि' का 'अग्रसेन' हो जाना असम्भव नहीं, और यह धारणा डाक्टर सत्यकेतु की धारणा की अपेक्षा अधिक बुद्धिग्राह्य है।

फिर भी यदि थोड़ी देर के लिए इस कल्पना की उपेक्षा कर

आग्रेयगण में राजा का अभाव

दी जाय तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि आग्रेयगण एक पैत्रिक राज्य था। आग्रेय गण में राजा नहीं होते थे यह उसकी मुद्राओं से स्पष्ट ज्ञात होता है। वहाँ न तो कोई पैत्रिक राजा

था और न कोई निर्वाचित राजा ही होता था। जिन प्रजातन्त्र राज्यों में किसी प्रकार के राजा नहीं होते थे उनके मुद्रा, गण के नाम से अंकित होते थे। पंजाब में मिली जनपद की अनेक मुद्राओं पर जनपद पर विशेष जोर दिया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि समस्त जनपद वहाँ का शासक समझा जाता है। इससे स्पष्ट है कि अगरोहा में भी कभी किसी राजा का शासन न था, वरन वहाँ पूरा स्वायत्त शासन था।

आग्रेय गण के राजनैतिक स्वरूप पर बरवाला से मिली उन मुद्राओं से विशेष प्रकाश पड़ता है, जिनपर श्रीयुत एलन के पाठानुसार "अगाच मित्रपदा मिशयन" अंकित है।[१]

आग्रेय का राजनैतिक रूप

इस मुद्रा लेख का पूर्वांश 'अगाच मित्रपद', जो 'आग्रेय मित्रपद' का प्राकृत रूप है, डाक्टर बार्नेट के कथनानुसार बड़े महत्व का है।[२] उनके कथनानुसार मित्रपद का उपयोग प्राचीन राजतन्त्र में संघ (कनफेडरेशन) के अर्थ में होता था। इसलिए उक्त लेखांश से जान पड़ता है कि आग्रेय की राजनैतिक सत्ता किसी संघ (कनफेडरेशन) के सदस्य के रूप में थी।[३] माशियो प्रज़लुस्की ने अपने एक लेख में पंजाब में

१—कैटलाग आव द क्वायन्स आव एन्शियन्ट इन्डिया इन बृटिश म्युज़ियम पृ० २८२—८४।

२—बुलेटिन आव द स्कूल आव ओरियन्टल स्टडीज़ भाग १० पृ० २७८।

३—वही पृ० २७८।

समय-समय पर अनेक राज्य एवं वर्णों द्वारा संघ स्थापित किए जाने का निर्देश किया है और चन्द्र व्याकरण (२-४-१०३) की वृत्ति के आधार पर यह बताया है कि वहाँ साल्व नामक छ जन-पदों का एक संघ था जिसके दो सदस्य युगान्धर और औदुम्बर थे।[१] डाक्टर बार्नेट का अनुमान है कि सम्भवतः आग्रेय गण भी उसी संघ का सदस्य रहा होगा।[२] आपके इस अनुमान का कोई आधार नहीं है, कोरा अनुमान मात्र है, इसके विपरीत हमारी धारणा है, जैसा कि आगे स्पष्ट होगा कि आग्रेय की घनिष्टता मालव से अधिक थी। यदि आग्रेय किसी संघ का सदस्य था तो उस संघ में मालव मुख्य रूप से अवश्य रहा होगा। किन्तु एक खटकने वाली बात यह है कि मित्रपद शब्द केवल इन मुद्राओं पर क्यों है, अन्य मुद्राओं पर क्यों नहीं है ? इसके अतिरिक्त मित्रपद का प्रयोग साधारणतया कहीं अन्यत्र देखने में नहीं आता। इससे अनुमान होता है कि सम्भवतः आग्रेय गण स्वतः कुछ छोटे-छोटे मित्रों का सामूहिक संघ रहा होगा। आज अग्रवाल जाति में १८ गोत्र प्रचलित हैं, हो सकता है यह गोत्र उन्हीं समूहों को व्यक्त करते हों। गोत्रों का वास्तविक अर्थ हमने परिशिष्ट में स्वतन्त्र रूप से व्यक्त किया है, उसके आधार पर हम अनुमान कर सकते हैं कि यह संघ छोटे-छोटे समूहों के संगठन से बना था। हो सकता है यह मित्र पद उसी की ओर संकेत करता हो।

१—बुलेटिन आव द स्कूल आव ओरियन्टल स्टडीज़ भाग १० पृ० २७६

२—वही पृ० २८०।

बम्बई प्रान्त के कुछ गुजराती अग्रवाल अपने को अगरोहा का मूल निवासी न मान कर आगर (मालवा) का निवासी मानते हैं। [१] हिन्दी के सुप्रसिद्ध व्याकरणाचार्य पं० अम्बिका प्रसादजी बाजपेयी भी इसका समर्थन करते हैं। आपका कहना है कि अग्रवाल शब्द आगरवाल से ही बना है। इसके लिए आप कहते हैं कि हिन्दी के शब्दों में प्रत्यय लगाने पर दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाते हैं जैसे 'बूढ़ा + आपा' से 'बुढ़ापा' बना 'बूढ़ापा' नहीं। इसी प्रकार आगर और वाल मिलकर आगरवाल न होकर अगरवाल शब्द बना। [२] यह धारणा व्याकरण सम्मत होते हुए भी ऐतिहासिक दृष्टि से नितान्त भ्रमात्मक है। जनपद की व्याख्या करते समय हम बता चुके हैं कि राज्य का निर्माण जन से होता था। यदि कोई शक्तिशाली राज्य आक्रमण करके उस देश को जीत ले तो उसकी कोई विशेष हानि नहीं होती थी। जनता उस देश को छोड़कर कहीं और जाकर बस सकती थी। देश के छिन जाने पर भी राज्य जीवित रह सकता था। महत्व बरानेवाली भूमि का न था, वरन महत्व जन का था। अस्तु...डाक्टर काशी प्रसाद जायसवाल ने लिखा है कि बड़े-बड़े साम्राज्यों के विकास होने पर अनेक गणों ने साम्राज्यवाद की आधीनता स्वीकार न कर अपने हरे भरे शस्य श्यामल पंचनद

गुजराती अग्रवाल

१—आर० ई० एन्थावेन, ट्राइब्स एन्ड कास्टस आफ बाम्बे १६२२ भाग ३ पृ० ४२६।

२—अग्रवाल वर्ष १ खण्ड २ संख्या ३ पृष्ट ६५६।

प्रदेश को छोड़ दिया और मरु भूमि का आश्रय लिया। वहाँ शक्ति-शाली साम्राज्यों के आक्रमण से बचकर अपनी स्वाधीन सत्ता का रक्षा कर सकना सम्भव था। इस तरह अपना पुराना निवास स्थान छोड़ कर राजपूताना में जा बसने वाले गणों में पूर्वोल्लिखित मालव और शिवि गण भी थे [१]।

अग्र और मालव

आगर इसी मालव गण द्वारा नवनिर्मित मालवा प्रदेश में उज्जयिना से लगभग ४० मील उत्तर पूर्व स्थित एक छोटा सा नगर है। जान यह पड़ता है कि आग्रेय गण और मालव गण में पर्याप्त घनिष्टता थी। फलतः जब लगभग १५० ई० पू० मालव लोग पंजाब छोड़ राजपूताना की ओर चले तो उनके साथ आग्रेय गण के भी कुछ लोग आए और यहाँ आकर बस गये और अपने निवास स्थान का नाम आगर रख लिया। इतिहास में इस बात के अनेक उदाह-रण प्राप्त हैं कि एक स्थान के निवासी जब दूसरे स्थान गए तो उसको भी अपने पूर्व स्थान का नाम दे डाला। यथाः मथुरा (शौरसेन देश), मदुरा (पाण्ड्य देश) और मधुरा (कम्बोडिया) को एक ही जाति के लोगों ने बसाया था। मालवों और आग्रेयों की घनिष्टता का एक प्रमाण श्री जयचन्द विद्यालंकार की पुस्तक 'भारतभूमि और उसके निवासी' में मिलता है। उन्होंने इण्डोचीन के आधुनिक प्रान्त 'लओ' का प्राचीन नाम 'मालव' और उसके

१—काशी प्रसाद जायसवाल, हिन्दू राजतन्त्र पृ० २५५।

निकट के एक नगर 'हानाई' का नाम 'अग्र नगर' लिखा है। उनके कथनानुसार ये तत्कालीन भारतीय बस्तियाँ थीं।[१] इससे अनुमान होता है कि मालव और आग्रेय लोग न केवल मध्य भारत में ही साथ-साथ आकर बसे वरन् सुदूर पूर्व में भी साथ-साथ गये। इसलिए हो सकता है कि अपनी स्वतन्त्र प्रियता के कारण आग्रेय गण का जो भाग आगर चले आए हों उनकी वर्तमान संतान वर्तमान गुजराती अग्रवाल हों।

१—पृ० १६७।

परिशिष्ट

१

नागवंश

अग्रवाल जाति के विकास पर लिखी जाने वाली पुस्तक के लिए जितनी सामग्री अब तक प्राप्य है, उसके अनुसार अब अधिक कुछ लिखने की गुंजाइश नहीं है। किन्तु अग्रवाल जाति अपने को मातृपक्ष से नागों की संतान मानती है और नागों को अपना मामा कहने में अभिमान मानती है और इसी कारण वे लोग चाहे वैष्णव, शैव या जैन कोई भी हों, सर्पों को नहीं मारते। मारना तो दूर रहा उसे चोट पहुँचाना या सताना भी बुरा समझते हैं। अनेक स्थानों पर अग्रवाल लोग अपने मकान के दोनों ओर प्रतिमा बनाते हैं और उनकी पूजा करते हैं। उनकी स्त्रियाँ नागपञ्चमी को साँप के बिलों की पूजा करती हैं। सर्पों को इतना महत्व देने का क्या कारण है, यह अग्रवाल जाति के इतिहास का एक उपेक्षित विषय है। हम लगे हाथों इस पर भी एक दृष्टि डाल लेना उचित समझते हैं।

अग्रवाल जाति और नाग

किंवदन्ती प्रचलित है कि राजा अग्रसेन ने नागकन्या कुमुद तथा कोलपुर के नागराजा महीधर की कन्याओं से विवाह किया था [१]। उन्होंने अपने पुत्रों का विवाह भी विशानन या वासुकि अथवा अनन्तदेव या दशानन नाम के नाग राजाओं की कन्यायों से किया था [२]। इन नाग कन्यायों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे सदैव अपने सर्पिणी रूप में रहतीं थीं इससे उनके पति उनसे बहुत घबराते थे और उनके निकट नहीं जाते थे। वे नाग कन्यायें वर्ष में केवल एक दिन श्रावण शुक्ल ५ को अपना सर्पिणी का चोला उतार कर स्त्री बन कर तालाब में स्नान करतीं और पूजा करती थीं। एक दिन जब वे स्नान करने गईं तो लोगों ने उनका सर्पिणी का चोला जला दिया और वे पुनः सर्पिणी न बन सकीं [३]। उन्हीं नाग कन्यायों की संतान यह अग्रवाल जाति है। इस किंवदन्ती को यदि हम ज्यों का त्यों मान लें तो क्या कोई सर्पिणी से विवाह करने की कल्पना कर सकता है? यह एक असम्भव एवं अप्राकृतिक सी बात है जो मूर्खता से परिपूर्ण है।

किंवदन्तियों में नाग

वस्तुतः बात यह है कि नाग एक जाति का नाम है जो आर्यों

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द : अगरवालों की उत्पत्ति पृ० ३।

२. श्री विष्णु अग्रसेन वंश पुराण भूतखण्ड पृ० १७ : अग्रसेन जी का जीवन चरित्र पृ० १६

३. श्री विष्णु अग्रसेन वंश पुराण भूतखंड पृ० ३४ : अग्रसेन जी का जीवन चरित्र पृ० २१, २४।

के प्रवेश से पूर्व से ही भारतवर्ष में निवास करती थी। अनुमान किया जाता है कि यह कोई आर्येतर जाति थी। यदि वह आर्य जाति होती तो आर्यों के प्राचीन साहित्य में इसकी कहीं न कहीं यथार्थ चर्चा अवश्य आती। सामान्य मत यह है कि आर्यों से पहले जो जातियाँ यहाँ बसी थीं वे द्रविण थीं और उन्हें आर्य दस्यु कहते थे। किन्तु कुछ लोगों का कहना है कि द्रविणों से भी पहिले यहाँ मनुष्यों की अन्य जातियाँ बसती थीं उनमें एक नाग जाति भी थी।

नाग जाति

जान यह पड़ता है कि अन्य जातियों के समान आरम्भ में नाग लोग भी सर्वप्रथम पहाड़ जंगल तालाब आदि के समीप रहते रहे होंगे। और सर्पपूजक होकर अपने शरीर के ऊपर और आभूषणों में सर्प का चिह्न अङ्कित करते रहे होंगे। अति प्राचीन काल से नाना देशों में एक विशेष चिह्न या लांछन से परिचय देने का रिवाज दिखाई देता है। यह चिह्न साधारणतः या तो किसी जीव जन्तु के होते हैं या वृक्ष लता और पुष्पों के। जो वस्तु लांछन या चिह्न रूप में व्यवहृत होती है वह वस्तु उस जाति के प्रत्येक व्यक्ति के श्रद्धा और सम्मान की चीज़ होती है। अंग्रेज़ी में इसे टोटेम कहते हैं। आर्यों की पूर्ववर्ती अनेक जातियों में भी टोटेम प्रचलित था और वे अपना परिचय किसी जीवजन्तु या वृक्षलता आदि से दिया करती थीं। इसका प्रमाण ऋग्वेदादि प्राचीन ग्रन्थों में काफी मिलता है[१]। आज

टोटेम

१. ऋग्वेद ७:१८,१९, १:१८:६, शतपथ ब्राह्मण १३:५:४:६।

भी प्राचीन अनार्य जातियों के वंशज जातियों के कितने ही नाम एवं गोत्र इस प्रकार के पाये जाते हैं। टोटेम नामधारी जातियों का विशद विवेचन आचार्य क्षितिमोहन सेन शास्त्री ने अपनी पुस्तक 'भारतवर्ष में जाति भेद' में किया है [१]। नाग नाम भी इसी प्रकार का नाम है। उनके इस प्रकार के किन्हीं कारणों से लोगों में यह भ्रमपूर्ण धारणा फैल गई होगी कि वे लोग मनुष्य नहीं अपितु सर्प हैं।

निवास-स्थान

जो भी हो आर्यों से पूर्व भारतवर्ष में नाग जाति अति प्रबल थी और आर्यों के प्रवेश के पश्चात भी उसकी विशेष महत्ता थी। काश्मीर से लेकर लंका तक और पेशावर से ब्राह्म देश तक नाग जाति के चिन्ह फैले हुए हैं। यही नहीं सुमात्रा जावा आदि देशों में भी इस जाति का प्रवेश रह चुका है। इस प्रकार दूर तक फैले हुए नाग जाति का मूल स्थान कहाँ था, इसका निर्णय करना बहुत कठिन है। नागों के मूल स्थान के सम्बन्ध में प्रचलित पुरातन एवं प्रबलतम जो आख्यायिका है, उसका यदि विश्लेषण किया

---

१. पृष्ठ १०५, ११५ : इस विषय पर विस्तृत अध्ययन के लिए रिजले कृत पीपुल आफ इन्डिया पृ० ९३, १०२, डब्लू क्रूक कृत ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स आफ द एन० डब्लू० पी० एण्ड अवध भाग १ पृ० २, अनन्तकृष्ण एयर कृत माइसोर ट्राइब एण्ड कास्ट्स पृष्ट २४२, २६२, ई० थर्स्टन कृत कास्ट्स एण्ड ट्राइब्स आव सदर्न इण्डिया तथा मेकडानल कृत वेदिक माइथालोजी पृ० १५३ देखना उचित होगा।

जावे तो नाग लोग दक्षिणात्य कहे जा सकते हैं। नाग नीचे के लोक के रहने वाले हैं, उनका पाताल लोक है, इस प्रकार पुराणों ने बार बार घोषित किया है। उत्तर निवासी आर्यों के लिए यह पाताल लोक दक्षिण देश के सिवा और कौन सा देश हो सकता है [1]। लेकिन कुछ लोग अमेरिका, आस्ट्रेलिया, न्युफाउण्डलैण्ड आदि में से किसी को पाताल लोक मानते हैं। कहीं कहीं पूर्वी बंगाल अथवा आसाम के पूर्वी भाग को भी पाताल लोक कहा गया है [2]। कुछ लोग सिन्ध प्रान्त में पाताल का अस्तित्व बताते हैं [3]।

इस जाति के लोगों का सर्व प्रथम उल्लेख भारतीय इतिहास में समुद्र मंथन की कथा में मिलता है। यदि पुराणों के द्राष्टान्तिक वर्णन को अलग रख दिया जाय तो ज्ञात होता है कि आर्य, दैत्य और नाग लोगों ने समुद्र द्वारा संसार यात्रा का विचार किया। इस पर शेषनाग ने जहाज बनाने के लिए मन्दराचल से इतनी अधिक लकड़ी मँगाई कि जान पड़ने लगा कि समुद्र के सामने समूचा पहाड़ आ गया है। नागों के दूसरे सरदार बासुकि ने रस्सी मस्तूल आदि लगाकर जहाजों को सजाया और तब नागों की

पौराणिक उल्लेख

---

१. देशाई पांडुरंग राय : नाग जाति सम्मेलन पत्रिका भाग २५ संख्या ६, १०।

२. मिश्रबन्धु : भारतवर्ष का इतिहास [प्रथम संस्करण] भाग १ पृष्ठ ६४, ६७।

३. वही, [तृतीय संस्करण] भाग १ पृष्ठ ५८।

सहायता से दैत्य और आर्य लोगों ने सारे संसार में समुद्र यात्रायें की और इन यात्राओं में उन्हें भाँति भाँति के पदार्थ प्राप्त हुए जिनमें १४ रत्न प्रधान थे। पुराणों में नागों के सम्बन्ध में जो कुछ भी वर्णन प्राप्य है उससे जान पड़ता है कि इन लोगों की सदैव ही आर्य लोगों से घनिष्टता रही और राजा जनमेजय के अतिरिक्त किसी भी आर्य राजा से इनकी भारी लड़ाई नहीं हुई। इस बात की पुष्टि इस बात से भी होती है कि इस जाति का आर्यों से विवाहादि सम्बन्ध खूब प्रचलित था। और इसके पर्याप्त निर्देश प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्य हैं। सूर्यवंशी राजा युवनाश्व और हर्यश्व की बहन धूमवर्ण नामक नाग को व्याही गई थी। उसीकी पाँच कन्याओं का विवाह हर्यश्व के दत्तक पुत्र यदु से हुआ था। रामायण युग में मेघनाथ की स्त्री सुलोचना नाग कन्या थी। रामचन्द्र के पुत्र कुश ने एक नाग कन्या से विवाह किया था। महाभारत काल में भीम को जब दुर्योधन ने विष देकर नदीमें फेंक दिया था तो नाग लोग उसे उठाकर ले गये थे। उस समय नागराज ने भीम को देखकर कहा था कि यह मेरे दौहित्र का दौहित्र है। नागराज की कन्या से सूरसेन हुए थे। सूरसेन की पुत्री कुंती थी। श्रीकृष्ण के नाना उग्रसेन की रानी नाग कन्या थीं। अर्जुन की भार्या और बभ्रुवाहन की माता चित्रांगदा नागराजकुमारी थी। अर्जुन की दूसरी पत्नी उलूपी भी नागपुत्री थी। इनके अतिरिक्त पुराणों में कितने ही ब्राह्मण ऋषियों के नागस्त्रियों से परिणय होने की कथायें दी हैं। इस सन्दर्भ में जरत्कारू ऋषि का वृत्तान्त प्रसिद्ध है। नाग-

राज वासुकि की बहन से इनका सम्बन्ध हुआ है और उनसे उत्पन्न पुत्र पुण्यश्लोक आस्तिक ऋषि थे। कथा सरित्सागर से ज्ञात होता है कि वृहत्कथा के निर्माता गुणाढ्य की माता ब्राह्मण कुमारी और पिता नागराजकुमार थे। दक्षिणात्य ग्रन्थ मणिमेगलय के अनुसार चोल राजा वेण ऋवेयरकिल्ली ने पीलवलय नाम्नी नाग कन्या से विवाह किया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि नाग जाति का आर्यों से बहुत घनिष्ट सम्बन्ध था और उनके महापुरुषों ने आर्यों के इतिहास एवं पुराणों में प्रमुख स्थान प्राप्त किया था। वैदिक काल में इनमें से कितनों ने ब्राह्मण और ऋषि का पद प्राप्त किया था। ऋग्वेद के दशम मंडल के ९४ वें सूक्त के रचयिता कद्रू के पुत्र नागवंशीय अर्बुद थे [१]। तैतरेय संहिता के अनुसार ऋग्वेद के १०:१८९ सूक्त की रचयित्री ऋषि हैं सर्पराज्ञी। इसी प्रकार १००:७६ सूक्त के ऋषि हैं नागजातीय इरावत के जरत्कर्ण [२]। नागों के कुलसंस्थापक शेषनाग को विष्णु की शैया और पृथ्वी का आधार कहलाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार अनन्त नामक दूसरे प्रमुख नाग को तो परमात्मा की विभूति कहलाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है [३]। और अब तक भाद्रपद की चतुर्दशी को अनन्त की पूजा होती है।

---

१. कद्रू वा: पुत्रस्य सर्पस्य अर्बुदस्यार्षम्। सायण

२. इरावतः पुत्रस्य सर्पजाते जर्रत्कर्णस्यार्षम्। सायण

३. अनन्तश्चास्मि नागानां। गीता।

इतिहास में नागों का उल्लेख एक वंश के रूप में हुआ है। इनका इतिहास प्रायः एक प्रकार से अब तक अज्ञात सा रहा है, स्व० डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने उनके इतिहास का मुद्रा एवं पौराणिक उल्लेखों के आधार पर परिश्रमपूर्वक उद्धार किया है [१]। उनके कथनानुसार नागवंश का सर्व प्रथम ज्ञात नागवंश का उत्थान विदिशा में हुआ था जो शुंको के शासनकाल में उपराज या राज प्रतिनिधि का प्रसिद्ध निवास स्थान या केन्द्र था। तद्स्थान के नाग शासकों की नामावली इस प्रकार ज्ञात होती है:—

नागवंश

शेष	ई० पू०	११०—९०
भोगिन	,,	९०—८०
रामचन्द्र	,,	८०—५०
धर्मवर्मन	,,	५०—४०
वंगर	,,	४०—३१

इसके पश्चात् जान पड़ता है कि इनका शासन कुछ काल के लिए छिन्न-भिन्न हो गया और वे अपनी राजधानी पद्मावती ले आए और वहाँ निम्न शासक हुए—

भूतनन्दी	ई० पू०	२०—१०
शिशुनन्दी	,,	१०—२५ ई०
यशनन्दी	—	२५ ई०—३० ई०

१. डा० काशी प्रसाद जायसवाल—अन्धकार युगीन भारत।

पुरुषदात उत्तमदात भवदात शिवनन्दी या शिवदात	३० ई०—७८ ई० इनके सम्बन्ध में अभी तक निश्चित नहीं हो सका है कि किस क्रम से बैठे।

इनके शासन के अन्तिम काल में भारत में कुशाण शासकों ने अपना साम्राज्य स्थापित किया और ८० ई० से १७५ ई० तक राज्य करते रहे। इस बीच नाग लोग पद्मावती और विदिशा का निवास छोड़ मध्यप्रदेश में चले गए और होशंगाबाद-जबलपुर के पहाड़ों और जंगलों में रक्षित रहकर वे लोग पचास वर्ष से अधिक समय तक राज्य करते रहे। पश्चात् कुशाण साम्राज्य के अन्तिम काल में वहाँ से निकल कर बघेलखण्ड होते हुए गंगा तट पर कान्तिपुरी पहुँचे और काशी अथवा आसपास उन लोगों ने अश्वमेधयज्ञ किया और वहीं उन लोगों का राज्याभिषेक हुआ। फिर कान्तिपुरी से वे लोग पश्चिम की ओर बढ़े और पद्मावती और मथुरा पर अधिकार प्राप्त किया। और नवस्थापित नागवंश अपने नये शासक नव के नाम पर नवनाग वंश के नाम से पुकारा जाने लगा। पीछे यही वंश भारशिववंश के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हुआ।

इस वंश के प्रथम शासक नवनाग के सम्बन्ध में अनुमान किया जाता है कि वह कुशाणवंशी वासुदेव के साम्राज्यकाल में संयुक्तप्रान्त के पूर्वी भाग में एक स्वतंत्रशासक की भाँति राज्य करता

था। उसका शासनकल १४० ई० से १७० ई० तक अनुमान किया जाता है। उसके पश्चात् वीरसेन नाग शासक हुआ। उसने अपने राज्यकाल के पहले वर्ष से ही महाराज के समस्त शासनाधिकार अपने हाथ में कर लिया था। उसके सम्बन्ध में ज्ञात होता है कि उसने कुशाणों को हटाकर मथुरा में फिर से हिन्दू राज्य स्थापित किया था। वीरसेन के उत्थान से केवल नागवंश के इतिहास में ही नहीं बल्कि आर्यवर्त के इतिहास में भी एक नवीन युग का आरम्भ होता है। उसके राज्य विस्तार की सीमा समस्त संयुक्तप्रान्त और पंजाब का विशेष भाग अनुमान किया जाता है। इसने २१० ई० तक शासन किया। वीरसेन के पश्चात् इस वंश में निम्न शासक हुए:—

नवनाग

१—हयनाग	२१०—२४५ ई०
२—त्रयनाग	२४५—२५० ई०
३—बर्हिननाग	२५०—२६० ई०
४—चरजनाग	२६०—२९० ई०
५—भवनाग	२८०—३१५ ई०

भवनाग के पश्चात् इसवंश का शासन वाकाटक वंश के हाथ में चला गया। भवनाग ने अपनी कन्या का विवाह वाकाटक राजवंश के सम्राट प्रवरसेन के पुत्र गौतमीपुत्र से किया था। भवनाग के समक्ष कोई पुत्र न था इस कारण इस सम्बन्ध से उत्पन्न दौहित्र रुद्रसेन प्रथम के हाथ इस वंशका शासन चला गया और उस वंशका उत्कर्ष हुआ।

अपने समय में भारशिव वंश का इतना अधिक महत्व था कि वाकाटक वंशके, जो एक उच्च कोटिका ब्राह्मण कुल था, राजकीय लेखों में इस विवाह सम्बन्ध का बारबार उल्लेख किया गया है और उनका गुण गान गाया है। बात भी कुछ ऐसी ही थी। कुशाण शासकों को भारत से निकाल बाहर करना एक सामान्य बात न थी। वे ऐसे शासक थे कि जिनके पास बहुत अधिक रक्षित शक्ति एवं सेना थी और वह रक्षित शक्ति उनके मूल निवासस्थान मध्य एशिया में रहती थी जहाँ से उनके सैनिकों के बहुत बड़े बड़े दल सदैव आया करते थे। इनका साम्राज्य वंक्षु नदी के तटसे लेकर बंगाल की खाड़ी तक, यमुना से लेकर नर्मदा तक और पश्चिम में काश्मीर तथा पंजाब से लेकर सिन्ध और काठियावाड़ तक और गुजरात, सिंध और बलूचिस्तान के समुद्र-तट तक भली भाँति स्थापित होगया था। ये लोग प्रायः सौ वर्षों तक बराबर यही कहते रहे कि हम लोग देव पुत्र हैं और हिन्दुओं पर शासन करने का हमें ईश्वर की ओर से अधिकार प्राप्त हुआ है। यों तो एक बार थोड़ी सी यूनानी प्रजाने भी विशाल पारसी साम्राज्य के विरुद्ध सिर उठाया था और उसे ललकारा था, पर भारशिवों के नेता ने, जो अज्ञात वास से निकलकर तुखारों की इतनी बड़ी शक्ति के विरुद्ध सिर उठाया था और उसे ललकारा था, वह असीम वीरता का कार्य था। उन यूनानियों पर कभी पारसियों का प्रत्यक्ष रूपसे शासन नहीं था, पर संयुक्त प्रान्त और

भारशिव

बिहार के नाम से आजकल पुकारे जाने वाले प्रदेश पर कुशाण साम्राज्य का प्रत्यक्ष रूपसे अधिकार और शासन था। यह कोई नाममात्र की अधीनता न थी जो सहज में दूर करदी जाती और न यह केवल दूरपर टँगा हुआ प्रभाव का पर्दा था जो सहज में फाड़ डाला जाता। यहाँ तो प्रत्यक्ष रूपसे ऐसे बलवान और शक्तिशाली साम्राज्य शक्ति पर आघात करना था जो स्वयं देशमें उपस्थित थी और प्रत्यक्ष रूपसे शासन कर रही थी। भारशिवों ने ऐसी शक्ति पर आक्रमण किया और इतनी सफलता से आक्रमण किया कि हम देखते हैं कि वीरसेन के उत्थान के कुछ ही समय बाद कुशाण लोग गंगा तटसे पीछे हटते हटते सरहिन्द के आस पास पहुँच गए थे। भारशिवों ने कुशाण राजाओं को इतना अधिक दबाया था कि अन्त में उन्हें सासानी सम्राट शापूर (२३६-२६९ ई०) के संरक्षण में चला जाना पड़ा। इस स्वतन्त्रता स्थापक वंशके सम्बन्ध में कहा जाता है कि इस वंशके लोगोंने शिवलिंग को अपने कन्धे पर वहन करके शिवको भली भाँति परितुष्ट किया था, जिससे वे भारशिव नामसे प्रसिद्ध हुए। इन्होंने दश अश्वमेध यज्ञ किए थे।

नागों की शासन प्रणाली संघात्मक थी और भारशिववंश उस शासन प्रणाली का नेता था। उनके अन्तर्गत प्रतिनिधि स्वरूप शासन करने वाले अन्य कई वंश और प्रजातन्त्रात्मक राज्य सम्मिलित थे। पद्मावती और मथुरा में भारशिवों द्वारा स्थापित वंश की दो

शासन प्रणाली

शाखायें थीं जो क्रमशः टाक-वंश और यदु वंश कहा जाता था।

पद्मावती स्थित टाकवंश में निम्न शासक हुए ज्ञात होते हैं:—

टाकवंश	भीमनाग	२१०—२३० ई०
	स्कन्दनाग	२३०—२५० ई०
	बृहस्पतिनाग	२५०—२७० ई०
	व्याघ्रनाग	२७०—२९० ई०
	देव नाग	२९०—३१० ई०
	गणपतिनाग	३१०—३४४ ई०

ये लोग एक प्रकार से स्वतन्त्र शासक थे और भारशिवों के अधीन उसी प्रकार थे जिस प्रकार कोई राज्य किसी साम्राज्य के अन्तर्गत होता है। ये लोग अपनी इस स्वतन्त्रता का उपयोग समुद्रगुप्त के समय तक करते रहे। समुद्रगुप्त के प्रथम आर्यावर्त युद्ध में गणपति नागके मारे जाने पर इस शासक वर्ग का अन्त हुआ। गणपति नाग धारा (पश्चिमी मालवा) का स्वामी कहा गया है।

मथुरा में राज्य करने वाले वंश में जो यदु नाम से प्रसिद्ध है, कीर्तिषेण (३१५-३४० ई०) और नागसेन (३४०-३४४ ई०) केवल दो शासकों के नाम प्राप्य हैं। इन दो राजाओं के पूर्व दो और राजा हुए होंगे पर उनके नाम प्राप्य नहीं हैं ये लोग प्रत्यक्षरूपसे भारशिवों के आधीन और शासन में थे।

यदुवंश

नागसेन भी समुद्रगुप्त के प्रथम आर्यवर्त युद्ध में मारा गया। अम्बाला (पंजाब) में श्रुघ्न नामक स्थान में भी एक नाग वंश राज्य करता था जो भारशिवों के

आधीन और शासन में था। इस वंशके दो शासक नागदत्त (३२८-३४८ ई०) और महेश्वरनाग (२४८-३६८ ई०) का पता लगता है। महेश्वरनाग लाहौर की एक मुहरमें महाराज पद से विभूषित हैं। बुलन्दशहर जिले के इन्दुपुर में या उसके आसपास एक और वंश राज्य करता था। इस वंशके केवल एक शासक मातिल (३२८-३४८ ई०) का कुछ पुरातात्विक सामग्रियों से पता लगता है। यह प्रान्त अन्तर्वेद (गंगा और यमुना के बीच के प्रदेश का पश्चिमी भाग) कहा गया है, यहाँ एक अलग गवर्नर या शासक राज्य करता था। मातिल सम्भवतः इसी प्रान्त का शासक था। इसी प्रकार अहिछत्र में भी एक शासक था जिसका नाम अच्युत या अच्युतनन्दी (३२४-३४४ ई०) था। पर यह स्वतन्त्र न होकर अपने समय में वाकाटकों के अधीन था। इन शासकों के पश्चात् भी पाँचवी शताब्दी तक कुछ नाग राजाओं के अस्तित्व का पता लगता है जो स्कन्दगुप्त के करद थे। गुप्त काल में सम्भवतः इनके सम्मान में अन्तर नहीं आया था क्योंकि हम देखते हैं कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यने कुबेरनागा नामक एक नाग राजकुमारी के साथ विवाह किया था। कल्हण की राजतरंगिणी में कश्मीर के नाग शासकों का इतिहास लिखा हुआ है जो आठवीं शताब्दी में कर्कोट वंशके नामसे शासन करते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नागवंश इतिहास के एक दीर्घकाल तक एक वैभवशाली वंश था। इस वंशसे सम्बन्ध जोड़ने में लोग अपना गौरव मानते रहे हैं। हम ऊपर कहही चुके हैं

कि भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण वाकाटक वंश इस वंशके साथ अपने विवाह सम्बन्ध की चर्चा करते हुए नहीं थकता।

राजनैतिक महत्व

इनके अतिरिक्त पल्लवआदि भारत के अन्य अनेक वंशोंके शिला लेखों में भी फणीन्द्रसुता एवं नाग कन्यायों के साथ विवाह करने की बातको बड़े गर्व और गौरव के साथ लिखी गई है। ऐसी अवस्था में यदि अग्रवाल जाति भी अपने को नागवंशसे सम्बन्धित कहने में गौरव मानती है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

कुशाण शक्ति का सामना करने के लिए भारशिवों ने यह नीति धारण की थी कि वे विविध राज्यों की स्वाधीनता का पुनरुद्धार कर उसके साथ मैत्री स्थापित करते थे और उसको स्थायी रखने के लिए अपनी राजकुमारियों का विवाह उनके यहाँ कर दिया करते थे।

भारशिवों की नीति

अगरोहा में कुषाण कालीन मुद्रायें बहुतायत से पाई जाती हैं तथा वहाँ जो किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं उनसे जान पड़ता है कि कुषाण सम्राट विमकदाप्स का अगरोहा के साथ विशेष सम्बन्ध रहा[1]। इससे

अगरोहा और नागवंश

१—पंजाब में अनेक किंवदन्तियाँ राजा रिसालू के नाम से प्रसिद्ध हैं जिनका कि सम्बन्ध अगरोहा से बताया जाता है। श्रीयुत जयचन्द विद्यालंकार ने अपनी पुस्तक भारतीय इतिहास की रूपरेखा [पृष्ठ ८२६] में इस राजा रिसालू को विमकदाप्स से मिला कर एक बताया है। राजा रिसालू के सम्बन्ध में अगरोहा से सम्बन्ध रखने वाली दो किंवदन्तियाँ इस प्रकार हैं:—

प्रकट होता है कि अगरोहा कुषाण सम्राटों के आधीन रहा होगा। ऐसी अवस्था में बहुत सम्भव है कि आग्रेय गण का भी उद्धार भारशिवों ने किया हो और अपनी कुछ कुमारियों का विवाह वहाँ के प्रमुख लोगों के साथ कर दिया हो, और उसी घटना को महत्व देने के लिए नाग कुमारियों के साथ विवाह करने की बात बड़े गर्व से कही जाती हो।

अलक्सान्दर के आक्रमण के १४५ वर्ष बाद अगरोहा में भयानक आग लगी और नगर एक दम नष्ट भ्रष्ट होकर केवल राख का ढेर रह गया। यह आग एक साधू के शाप से लगी थी। उसने शाम से पहले सूचना करा दी थी इससे कुछ लोग पहले ही नगर छोड़कर भाग गए। भागनेवालों में हरभजशाह नामक ख्यातिमना व्यापारी भी थे। उन्होंने एक प्रतिद्वन्दी व्यापारी के ताने से आहत होकर अगरोहा को फिर से आबाद करने का निश्चय किया और प्रतिज्ञा स्वरूप अपनी मूँछ और पगड़ी उतार दी। और अपने मित्र राजा रिसालू की सहायता से उसको दुबारा आबाद किया। [श्री विष्णु अग्रसेनवंश पुराण भूतखंड पृष्ठ ५३, ५४।]

दूसरी किंवदन्ती के अनुसार रिसालू सियालकोट का राजा था और उसके दीवान का नाम महिता था। महिता का विवाह अगरोहा के हरभजशाह की पुत्री शीला से हुआ था। शीला बहुत ही पतिपरायणा, गुणवती और सदाचारिणी थी। रिसालू उसके गुणों की प्रशंसा सुनकर उसपर मुग्ध हो गया और उससे स्वयं विवाह करना चाहा। किन्तु महिता के निकट रहते यह सम्भव न था अतः रिसालू ने उसे रोहतासगढ़ [सम्भवतः रोहतक] भेज दिया। महिता शीला पर पूर्ण भरोसा करता था। वह उसे वहीं छोड़ रोहतासगढ़ चला गया। जाने के बाद उसकी अनुपस्थिति में रिसालू अनुचित लाभ उठाने की चेष्टा करने लगा। वह रोज महिता के घर आने लगा किन्तु जब

इसके अतिरिक्त ध्यान देने योग्य बात यह भी है कि यह नागवंश वैश्यों का वंश था। यह बात डा० काशीप्रसाद जायसवालने 'मंजुश्री मूल कल्प' नामक प्राचीन बौद्ध ग्रन्थ[१] के आधार पर प्रामाणिक रूपसे निर्धारित की है।

वह किसी प्रकार शीला को वश में न कर सका तो निराश होकर उसे बदनाम करने के लिए अपने नाम की खुदी अंगूठी उसके शयनागार में छिपा कर रख दिया। महिता जब रोहतासगढ़ से लौट कर आया तो एक दिन उसकी नजर उस अंगूठी पर पड़ी और उसे अपने पत्नी के आचारण पर संदेह होने लगा। उसने नाना प्रकार से शीला की परीक्षा ली फिर भी उसका सन्देह दूर न हुआ। इसी बीच शीला अपने पिता के घर चली गई। महिता को इस घटना से बड़ा दुख हुआ और वह शीला के वियोग को सह न सका और वैरागी हो गया। इधर उधर भटकता हुआ वह अगरोहा पहुँचा और वहाँ निराशा में अपना प्राण त्याग दिया। शीला भी अपने पति के साथ सती हो गई। यह घटना जब रिसालू को मालूम हुई तो वह स्वयं अगरोहा आया और अपने सुयोग्य मन्त्री के वियोग में प्राण त्यागने की तैयारी करने लगा इतने में गुरु गोरखनाथ आगये और सच्चे प्रेमियों का स्नेह देखकर शिव पार्वती की प्रार्थना की और शीला तथा महिता को पुनर्जीवित कर दिया। [द लिजेण्ड आफ पंजाब से श्री सत्यकेतु विद्यालंकार की पुस्तक अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास में उद्धृत।]

१--श्लोक ७४-५२।

२

गोत्र

अग्रवाल जाति में १७॥ अथवा १८ गोत्र प्रचलित हैं। इनके विकास के सम्बन्ध में अग्रवाल जाति में कतिपय किंवदन्तियाँ हैं।

किंवदन्तियों में गोत्र

एक जन श्रुति के अनुसार अग्रसेन के १८ पुत्र हुए। जब वे विद्याध्ययन के योग्य हुए तो उन्हें तत्कालीन गुरुकुलों में भेजा गया। उस समय भारतवर्ष में बड़े बड़े ज्ञानी ऋषियों के सत्तरह गुरुकुल थे, जिनके अधिष्ठाता बड़े बड़े विद्वान ऋषि मुनि थे। उन्हीं ऋषियों के पास महर्षि पातञ्जलि की आज्ञा से महाराज ने अपने एक-एक पुत्र को भेज दिया। महर्षि गर्ग के आश्रम में सबसे बड़े और सबसे छोटे पुत्र को भेजा और शेष १६ पुत्रों को एक एक आश्रम में भेज दिया। इन पुत्रों ने जिस जिस ऋषि के आश्रम में शिक्षा पाई उन ऋषियों के नाम से उनका गोत्र प्रसिद्ध हो गया। एक ऋषि के आश्रम में दो पुत्र भेजे गए थे इस लिए दोनों का एक ही गोत्र होता था। किन्तु दोनों वंशधरों के पृथक पहचान के लिए गोत्रों में पृथकता रखना आवश्यक था, इसलिए एक का

गोत्र भिन्न रख कर आधा कहा गया[1]। दूसरा कथन यह है कि महाराज अग्रसेन ने साढ़े सत्तरह यज्ञ किए, जिनका उल्लेख पहले प्रकरण में किया जा चुका है, उन यज्ञों के पुरोहितों से साढ़े सत्तरह गोत्रों के नाम पड़े। एक कथन यह भी है कि अग्रसेन ने १७ रानियों और एक दासी से विवाह किया था। प्रत्येक रानी के साथ बैठ कर उन्होंने एक-एक पुत्रेष्ठि यज्ञ किया। प्रत्येक यज्ञ में जिस ऋषि को मुख्याचार्य मान कर यज्ञ किया उसी के नामपर साथ की रानी की सन्तान का नामकरण किया गया और उन्हीं ऋषि से यज्ञोपवीत करा कर गोत्र की स्थापना की गई और उन ऋषियों की वेद शाखा और प्रवर भी मानी गई। पश्चात जो वैश्य आते गए उनका १८ ऋषियों द्वारा संस्कार करा कर उनकी वेद शाखा स्थापित करते गये और उनका अपने एक एक पुत्र के नेतृत्व में अलग अलग यूथ निर्माण किया। वे ही बाद में गोत्र हो गए। दासी पुत्र के नेतृत्व में बनने वाले यूथ का गोत्र आधा माना गया।

विक्रमी शताब्दी के प्रारम्भ में अश्वघोष नामक एक प्रसिद्ध विद्वान और कवि हुआ है, जो कुषाण शासकों का धार्मिक सलाहकार था। उसने सौन्दरानन्द नामक एक काव्य लिखा है, जिसमें उसने एक स्थल पर क्षत्रियों के गोत्र के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना की है। उसमें उसने एक स्थान पर लिखा है :—

अश्वघोष

१—बालचन्द मोदी, अग्रवाल इतिहास परिचय, पृ० ६।

गौतम गोत्रीय कपिल नामक तपस्वी मुनि अपने महात्म्य के कारण दीर्घ तपस् के समान और अपनी बुद्धि के हेतु शुक्र और अंगिरस के समान थे। उनका आश्रम हिमालय के पार्श्व में था। कई इच्छ्वाकु राजपुत्र मातृद्वेष के कारण और अपने पिता के सत्य की रक्षा के निमित्त राजलक्ष्मी परित्याग कर रहे। कपिल उनके उपाध्याय (गुरु) हुये जिससे जो राजकुमार पहले कौत्स गोत्रीय थे अब अपने गुरु के गोत्र के अनुसार गौतम गोत्रीय कहलाये[१]। इस बात को पुष्ट करते हुए अश्वघोष ने व्यक्त किया है कि एक ही पिता के पुत्र भिन्न भिन्न गुरुओं के कारण भिन्न भिन्न गोत्र के हो जाते हैं। जैसे कि बलराम का गार्ग्य और कृष्ण का गौतम हुआ[२]।

अश्वघोष के इस कथन से किंवदन्ती वाली बात की पुष्टि होती है। किन्तु यह बात विश्वसनीय नहीं है। यह बौद्ध लेखक कृष्ण और बलदेव को भले ही दो गोत्र का बतावे, किन्तु पुराणों में इसका कुछ पता नहीं चलता। हरिवंश और भागवत की कथाओं से स्पष्ट ज्ञात होता है कि दोनों ने एक ही गुरु अर्थात् सान्दिपणि से शिक्षा पाई थी, जिससे निश्चित जान पड़ता है कि सौन्दरानन्द का कथन मिथ्या है। हो सकता है प्रक्षिप्त भी हो। बौद्ध लेखकों ने आर्य अनुश्रुतियों को बहुत ही भ्रमात्मक रूप से व्यक्त करने का यत्न किया है। उदाहरणार्थ उन्होंने सीता के सम्बन्ध में लिखा

१—सर्ग १, श्लोक १, ४, ५, १८, २१, २२।

२—सर्ग १, श्लोक २३।

है कि वे राम की भार्या और भगिनी दोनों थीं[1]। भाई बहन के विवाह की कल्पना हमारे लिए अकल्पनातीत है। हम इस पर विश्वास नहीं कर सकते।

याज्ञवल्क्य स्मृति में आचाराध्याय के विवाह प्रकार में लिखा है कि—जो कन्या नीरोग भाई वाली, भिन्न ऋषिगोत्र की हो और माता की तरफ पाँच पीढ़ी तक और पिता की तरफ सात पीढ़ीतक जिससे सम्बन्ध न हो उससे विवाह करना चाहिये[2]। इस आदेश के देखने से स्पष्ट जान पड़ता है कि गोत्र पुरोहितों के नहीं होते थे वरन् निजी होते थे। यदि पुरोहितों के ही गोत्र लोगों के होते तो याज्ञवल्क्य भिन्न गोत्र का आदेश न देते। पुरोहित के बदल जाने पर हर समय गोत्र बदल जाया करता और उसका कोई महत्व नहीं रहता। अनेक शिलालेखों में अनेक राजाओं ने अभिमानपूर्वक अपने गोत्रों का उल्लेख किया है[3]। इससे स्पष्ट है कि गोत्रों का विकास पुरोहितों से नहीं हो सकता। वह स्पष्टतः कुल द्योतक है।

याज्ञवल्क्य स्मृति

प्राचीन आर्यों ने अपने पूर्वजों की स्मृति रक्षा के लिए गोत्र और प्रवर प्रणाली का निर्माण किया था जो संसार में अन्यत्र

१—दशरत्थ जातक।

२—अरोगिणीं भ्रातृमती असमानार्ष गोत्रजाम्।
पञ्चमात्सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा॥ श्लोक ५२॥

३—भारहुत का तोरण लेख, कनिंगहम : भारहुत पृष्ठ १२७–१३०।

कहीं नहीं पाया जाता। प्रत्येक आय के लिये यह आवश्यक किया गया कि प्रत्येक धार्मिक कृत्य के अवसर पर अपने गोत्र और प्रवर का उच्चारण करे। इस प्रकार लोग आज तक गोत्र और प्रवर के रूप में अपने पूर्वजों को नित्य प्रति वंश परम्परागत स्मरण करते आ रहे हैं। इसलिए हमें जातियों के विकास के समान ही गोत्रों पर भी ध्यान देना होगा। आर्य जाति के लोग चाहे किसी वर्ण के हों, चाहे उनमें कोई भेद-उपभेद हो, उनके गोत्रों के विकास का भी मूल एक है।

गोत्र और प्रवर का उद्देश्य

महाभारत के अनुसार मूल गोत्र चार हैं—अंगिरस, कश्यप, वशिष्ठ और भृगु[१]। इन गोत्रों का समर्थन अनेक प्रवराध्याय और सूत्रों से भी होता है। इसका अर्थ यह निकलता है कि जब भारत में आर्यों का प्रथम अथवा सूर्यवंशी दल आया तो उसमें भृगु, अंगिरस, वशिष्ठ और कश्यप चार कुल के लोग थे। इन्हीं को ब्रह्मा का मानस पुत्र कहा गया है। ये ही लोग आर्य वर्ग अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य के जन्म प्रदाता हैं।

मूल गोत्र

प्रवरमञ्जरी में मूल गोत्रों के रूप में ८ नामों का उल्लेख हुआ है। इसमें बौधायन कथित सप्तर्षियों अर्थात् जमदग्नि, भरद्वाज,

---

१—मूल गोत्राणि चत्वारि समुत्पन्नानि भारत।
अंगिरा कश्यपश्चैव वशिष्ठो भृगुरेव च॥
महाभारत, शान्ति पर्व, अध्याय २९८।

विश्वमित्र, अत्रि, गौतम, वशिष्ठ और कश्यप के अतिरिक्त अगस्त्य का नाम है[1]।

महाभारत कथित भृगु का नाम इसमें नहीं है। वरन् उनके स्थान पर उनके वंशज जमदग्नि का नाम है। इसी प्रकार अंगिरस के स्थान पर उनके दो पौत्रों भरद्वाज और गौतम का नाम है। अस्तु—८ में अत्रि, विश्वमित्र और अगस्त्य रह जाते हैं। इनमें अत्रि के लिए तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे भारत में आने वाले द्वितीय दल अर्थात् चन्द्र कुल के द्योतक हैं, क्योंकि चन्द्र के पिता का नाम अत्रि कहा गया है और आज तक चन्द्रवंशी अधिकांश रूप में अत्रिगोत्रीय हैं। अगस्त्य एक दम नये व्यक्ति हैं। किन्तु वे भी वैदिक समय में ही हुए क्योंकि वेदों में उनका उल्लेख ऋषि के रूप में हुआ है। विश्वामित्र आर्य क्षत्रिय हैं जो अपने सुकृत्यों से ब्राह्मण और प्रवर ऋषि बन गये। अभिनव माधवीय गोत्र प्रवर निर्णय में इन आठ के साथ महाभारत कथित भृगु और अंगिरस को मिला कर गोत्रों की संख्या दस कही गई है। इस प्रकार महाभारत में सुरक्षित गोत्रों के प्राचीन इतिहास से ज्ञात होता है कि प्राचीन ऋषि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के जन्मदाता हैं और

१—जमदग्निर्भरद्वाजो विश्वामित्रोऽत्रिगौतमौ।
वशिष्ठकश्यपागस्त्या मुनयो गोत्र कारिणः॥
एतेषां यान्यपत्यानि तानि गोत्राणि मन्यते।—प्रवर मञ्जरी।
सप्तानां सप्तर्षीणामगस्त्यष्टमानां यदपत्यं तद्गोत्रमित्याचक्षते॥
—बौधायन।

इन्हीं चार कुलों से आर्य गोत्रों का विकास हुआ[१] और आज गोत्रों की संख्या असंख्य हो गई है[२]।

इस निष्कर्ष का समर्थन प्रवर का अध्ययन करने से भी होता है। श्रीयुत सी० वी० वैद्य ने बहुत ही छानबीन के पश्चात् बताया है

१—कुलों से गोत्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का मत-भेद है। वे लोग कहते हैं कि प्राचीन समय में गोत्र का अर्थ गाय बाँधने या रखने का बाड़ा, गोष्ट या गोशाला था। उस समय बड़ी बड़ी बस्तियाँ या नगर कम थे, जङ्गल अधिक था; लोग पशु अधिक पालते थे और उसी के अनुसार वे धनी और निर्धन आँके जाते थे। इसलिये वे उनके चरने का सुभीता देख कर किसी स्थल विशेष में बस जाते थे और सबके लिए अपने गोष्ठ बनाना सम्भव न था, इसलिए कुछ लोग सामूहिक रूप से अपना एक गोष्ठ बनाते थे। उस समूह का एक नेता होता था जो गोत्रपति कहा जाता था। गोत्र प्रतीक वशिष्ठ, कश्यप, भरद्वाज आदि इसी प्रकार के लोग थे। हर एक परिवार के लिए किसी न किसी परिवार में सम्मिलित होना आवश्यक था। इस प्रकार समान आवश्यकता, समान लाभ और समान रक्षा की भावना से प्राचीन आर्य समुदाय में जो गोत्र बने वे एक प्रकार के श्रेणी से थे जिनका विकास स्वाभाविक रूपसे हुआ। प्रत्येक गोत्र में सम्मिलित होनेवाले परिवार एक नेता के संरक्षण में एक विशाल परिवार होते थे जिनके प्रत्येक बालक-बालिकाओं में भाई बहन का नाता होता था, इसी कारण परवर्ती काल में सगोत्र विवाह का निषेध हुआ। (श्री ए० सी० दास : ऋग्वेदिक कल्चर, पृष्ठ १०६–११०।)

२—गोत्राणां तु सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानिच।—प्रवर मञ्जरी।

गोत्राणां तिस्रःकोटस्य सम्यपद्यन्ते।—प्रवर मञ्जरी भाष्य॥

कि विभिन्न सूत्रों के प्रवराध्यायों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्रवर ऋषि, किसी कुल के वे पूर्वज हैं जिन्होंने ऋग्वेद के सूत्रों की रचना की है और उन सूत्रों द्वारा अग्नि की प्रशंसा की है[१]। जब यजमान किसी पवित्र कृत्य के समय अपने प्रवर का उच्चारण करता है तो उसका अर्थ यह होता है कि वह अग्नि से प्रार्थना करके बताता है कि वह उन ऋषियों की संतान है जिन्होंने उसकी प्रार्थना में ऋग्वेद के मन्त्र रचे थे[२]। यजमान अग्नि को अपने ऋषि के नाम पर आह्वान करता है। आपस्तम्ब सूत्र के 'आर्षेयं वृणीते' की टीका इस प्रकार की गई है :—

प्रवर

'आर्षेयमृष्यपत्यसम्बन्धं प्रार्थयेते सङ्कीर्तयति'

अथवा

'ऋषेरपत्यमंनिनं यजमानस्य ऋषि सन्तानत्वात् तं वृणीते प्रार्थयते होमादिभिः'। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यजमान का सम्बन्ध प्रवर ऋषि से जन्मतः है शिष्यगत नहीं।

विक्रमीय सम्वत् ११३३ और ११८३ के बीच दक्षिण (कल्याण) के चालुक्य (सोलंकी) राजा विक्रमादित्य (छठे)

१—सी० वी० वैद्य : हिस्ट्री आफ मिडिवल हिन्दू इण्डिया, भाग २, पृ० ५७।

२—प्रवर का अर्थ आह्वान, चुनाव आदि है। वह प्र + वृ + अप् से बना है। वृ का अर्थ चुनना है और उसका रूप वृणोति, वृणीते इत्यादि होता है।

के दरबार में विज्ञानेश्वर नाम के पण्डित थे। उन्होंने याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका मिताक्षरा नाम से की है। उक्त टीका में उन्होंने

क्षत्रिय और वैश्यों के गोत्र

पूर्वोक्त श्लोक[1] में उल्लिखित 'असमानार्ष गोत्रजां' की टीका करते हुए लिखा है कि 'राजन्य विशौ प्रातिस्विक गोत्रामात् प्रवराभावस्तथापि पुरोहित गोत्र प्रवरो वेदितव्यो' इसकी पुष्टि में अश्वलायन का मत उधृत करके बतलाया है कि 'तथा च यजमानस्यार्षेयान् प्रवृणति इत्युक्त्वा पौरोहित्यान राज विशां प्रवृणीते इत्याश्वलायनः'।

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि राजाओं और वैश्यों में अपने गोत्र और प्रवर के अभाव में होने के कारण उनके गोत्र और प्रवर पुरोहितों के समझने चाहिये। इस टीका को लेकर विवाद किया जाता है कि क्षत्रियों और वैश्यों का अपना गोत्र और प्रवर नहीं है। किन्तु यदि श्रौत सूत्र का प्रवराध्याय देखा जाय तो ज्ञात होगा कि सूत्रकार ने वैश्यों के प्रवर वात्सप्री का उल्लेख किया है। ब्रह्माण्ड[2] और मत्स्य पुराण[3] में वैश्यों के तीन प्रवर भलंदन, वत्स और मांकील का उल्लेख है। ऐसी अवस्था में गोत्राभाव के उपर्युक्त कथन का यह कारण हो सकता है कि अधिकांश क्षत्रिय और वैश्यों ने बौद्ध और जैन धर्म ग्रहण कर लिया

१—याज्ञवल्क्य स्मृति, प्रवराध्याय, श्लोक ५३।

२—ब्रह्माण्ड पुराण, २। ३२। १२१–१२२।

३—मत्स्य पुराण, १४५। ११६–११७।

था। ऐसी अवस्था में उनके प्रवर और गोत्र भूल गये होंगे[1] और जब वे पुनः वैष्णव धर्म में आए तो उन्हें अपने गोत्र और प्रवर की आवश्यकता पड़ी होगी। ऐसी अवस्था में ही पुरोहितों के गोत्रों के ग्रहण करने का विधान किया गया होगा। जान पड़ता है इसी आधार पर विज्ञानेश्वर ने उक्त टीका की है और इसी आधार पर गोत्रों के पुरोहितों से विकास की धारणा का प्रचार हुआ होगा। इस कथन का समर्थन श्रौत के एक सूत्र से भी होता है। उसके सूत्र 'अथ येषां मन्त्र कृतो न स्युः स पुरोहित प्रवरास्ते प्रवीणान्' से ज्ञात होता है कि जिनके कोई मंत्रकृत ऋषि नहीं हैं, वे पुरोहित के प्रवर का प्रयोग कर सकते हैं। साथ ही सूत्र यह भी कहता है कि मंत्रकृत पूर्वज वाले लोग पुरोहित के प्रवर का उपयोग नहीं कर सकते, उन्हें अपने प्रवर का उपयोग करना चाहिये। एक अन्य सूत्र से पुरोहित के प्रवर का न्यायेन प्रयोग करने का अपवाद किया गया है लेकिन यह अपवाद गोत्रों के लिए नहीं है।

ब्राह्मणों से क्षत्रिय और वैश्यों के गोत्रों के विकसित होने का जो प्रतिपादन किया जाता है वह पुराणों में प्राप्य उल्लेखों के एक

अपौराणिक धारणा

दम विपरीत है। पुराणों में क्षत्रिय और वैश्यों से ब्राह्मण गोत्रों के विकसित होने का उल्लेख है[2]। ऐसी अवस्था में पुरोहितों से गोत्र

१—सी० वी० वैद्य मिडिवल हिन्दू इण्डिया, भाग २, पृ० १७७।

२—बृहत्क्षत्रस्य सुहोत्राद्धस्तीयइदम् हस्तिनापुरमारोपयामास।

चलने की कल्पना युक्ति संगत नहीं मालूम होती ।

सुप्रसिद्ध वैय्याकरण पाणिनि ने अपने अष्टध्यायी में गोत्रका अर्थ 'अपत्यं पौत्र प्रभृति गोत्रम्' अर्थात् पौत्र प्रभृति अपत्य को गोत्र कहते हैं, किया है[१] । प्रवरमंजरी के समाप्त सूत्र काण्ड में लिखा है कि पाणिनि ने जो पौत्र प्रभृति अपत्य को गोत्र कहा है उससे अभिप्राय सप्तर्षि और अगस्त्य से जानना चाहिये[२] । काशिका ने इसके उदाहरण में गार्ग्य वात्स्य इत्यादिका उल्लेख किया है[३] । इस उदाहरणका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :—

गोत्र का अर्थ

अजमील द्विमील पुरमीलास्त्रयो हस्तिनयाः । अजमीलात् क वः कन्वान्मेधातिथि यतः कान्वायनाः द्विजाः । —विष्णुपुराण ४।१६।१०

पुत्रप्रतिरथस्यासीत कन्वः समभवत् नृपः ।
मेधातिथिः सुतो यस्मात् कन्वो भवद्द्विजः । —हरिवंश पुराण

बृहत्क्षत्रमहावीर्य नर गर्गा अभवन्मन्यु पुत्राः । गर्गाच्छिनिः ततश्च गार्ग्याश्शैन्या क्षत्रोपेता द्विजातयो वभूव ।—विष्णु पुराण ४।१६

गर्गाच्छिनिस्ततो गार्ग्याः क्षत्राद् ब्रह्मन्य वर्त्तात् । —भागवत पुराण

दिवोदासस्य दायादो ब्रह्मर्षिर्मित्रायुनृ पः ।
मैत्रायणस्ततः सोमोमैत्रेयास्तु तवः स्मृताः ॥—हरिवंश पुराण अ० ३२

मुगदलश्चिमौद्गल्याः क्षत्रोपेताः द्विजातयो वभूव ।—विष्णु पुराण ४।२।१६

मुद्गलाद् ब्रह्मनिवृतं गोत्रम् मौद्गल्य संज्ञितम् ।—भागवत पुराण ।

१. अष्टाध्यायी ४।१।१६२

२. यदेतत्पाणिनीय गोत्र लक्षणं अपत्यं पौत्र प्रभृति गोत्रम् इति तदप्यगस्त्याष्टम सप्तर्ष्य विषमेवेति ।

३. गर्गस्यापत्यं पौत्र प्रभृति गार्ग्य वात्स्यः ।

पाणिनि के अनुसार गर्ग का पुत्र अनन्तरापत्य अर्थात् जिसके बीच अन्य कोई सन्तान न हो गार्गिः कहलायेगा[१] गार्गिः का पुत्र अर्थात् गर्गका पौत्र गार्ग्य कहलायेगा। इस गार्ग्य से आरम्भ करके आगे जो भी संतति होगी वे सब गोत्र तथा गोत्रापत्य कहलावेंगे, अनन्तरापत्य नहीं। किन्तु एक समय में केवल एक ही गार्ग्य होगा। यदि गर्ग के एक से अधिक पौत्र हों तो गार्ग्यका छोटा भाई गार्ग्य न कहला कर गार्ग्यायण कहा जावेगा[२]। वह गोत्रापत्य न कहला कर युवापत्य कहा जायेगा। यदि गर्ग के पौत्र गार्ग्य के कोई संतान हो तो अपने पिता गार्ग्य के जीवित रहते गार्ग्यायण कहा जावेगा गार्ग्य नहीं। एक समय में एक ही व्यक्ति गोत्र और गत्रापत्य कहा जावेगा शेष सब युवापत्य होंगे।

उद्देश्य

डाक्टर सत्यकेतु विद्यालंकार ने अपनी पुस्तक में इसका विशद विवेचन किया है और बताया है कि पाणिनि ने अनन्तरापत्य, गोत्रापत्य, और युवापत्य के भेद दिखाने में जो प्रबल परिश्रम किया है उसका उद्देश्य क्या है[३]। अष्टाध्यायी के गणपाठ में सैकड़ों शब्दों का उदाहरण देकर बड़े विस्तार के साथ विविध प्रत्यय लगाकर उसके रूप बनाये गये हैं। इस पर प्रकाश डालते हुए आप कहते हैं—"हमें मालूम है कि पाणिनि के समय भारत में बहुत से गण और संघ राज्य विद्यमान

---

१. पौत्र प्रभृति किम् अनन्तरस्य मा भूत् गार्गिः।

२. अष्टाध्यायी ४।१।६५; ४।१।१०१।

३. सत्यकेतु विद्यालंकारः अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास पृ० १३२।

थे। श्री काशी प्रसाद जायसवाल ने अष्टाध्यायी के आधार पर तत्कालीन बहुल से गण राज्यों की सत्ता सिद्धकी है[१]। इन गण राज्योंका शासन प्रायः श्रेणितन्त्र होता था। गण सभा में विविध कुलों के प्रतिनिधि एकत्र होते थे और राज्य कार्यका चिन्तन करते थे। ये प्रतिनिधि वोटों द्वारा नहीं चुने जाते थे अपितु प्रत्येक कुलका नेतृत्व उसका मुखिया गोत्रापत्य या वृद्ध करता था[२]। (आज भी पंचायतों में यही रूप चला आरहा है, कुलका मुखिया ही प्रतिनिधि समझा जाता है।) इसीलिए कुल में एक ही गोत्रापत्य या वृद्ध होता था। उस कुलके बाकी आदमी युवापत्य कहाते थे। प्रत्येक कुल की विशेष संज्ञा होती थी, जैसे गर्ग द्वारा स्थापित कुलके गोत्रापत्य व वृद्ध की संज्ञा गार्ग्य थी। उसी कुलके सब लोग गार्ग्यायण कहाते थे। गोत्र से पाणिनि का यही अभिप्राय है।

हम ऊपर विचार प्रकट कर आए हैं कि अग्रवाल जाति का विकास आग्रेय नामक गण से हुआ है। अस्तु—इस जाति में गोत्र का तात्पर्य वही रहा होगा, जो पाणिनि ने व्यक्त किया है। इसलिए अग्रवाल जाति में जो धारणा गोत्रों के सम्बन्ध में प्रचलित है वह मिथ्या है।

अग्रवाल जाति और गोत्र

अग्रवाल जाति में जो १७॥ या १८ गोत्र माने जाते हैं उनके सम्बन्ध में मेरी धारणा है कि आग्रेय गण में जिस १८ प्रधान कुलोंका हाथ था, उनका अथवा जिन मित्रों के सहयोग से वह मित्रपद बना था,

---

१—काशी प्रसाद जायसवाल, हिन्दू राजतन्त्र, अध्याय १०।४।

२—वृद्धस्य च पूजायाम्। —अष्टाध्यायी ४।१।१६६।

उन्हींका द्योतक यह गोत्र है। यह भी सम्भव है कि अग्रश्रेणि के रूप में उसमें १८ कुलोंका निवास रहा हो और उन्हीं के प्रतीक यह गोत्र हों। जो भी हो, वे पश्चातकाल में मिताक्षरा के अनुकूल कल्पना कर लिए गये और उसीके आधार पर हमारे गोत्रों के पुरोहितों से होने की किंवदन्ती चल पड़ी। अभी कुछ दिन हुए लाहोर हाइकोर्ट के एक फैसले में माननीय जजों ने बड़ी योग्यता से अग्रवाल जाति के गोत्रोंकी विवेचना की है।[1] उसमें माननीय जजोंने इस बातका विचार किया है कि अग्रवाल जाति में जो गोत्र आज प्रचलित है उनका हिन्दू ला में परिभाषित गोत्र से समन्वय हो सकता है या नहीं ? हिन्दू ला में गोत्रके सम्बन्ध में वही बात मान्य है जो विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा में प्रतिपादित किया है, अर्थात् क्षत्रिय और वैश्यों के गोत्र पुरोहितों से है। ऐसी अवस्था में यदि अग्रवाल जाति के गोत्र हिन्दू ला अर्थात् मिताक्षरा के अनुसार हों तो समस्त गोत्र ब्राह्मणों से मिलने चाहिये क्योंकि उनका विकास विभिन्न पुरोहितों से हुआ होगा। किन्तु यह बात नहीं है। बड़ी खींचतान के बाद भी केवल चार गोत्र कुछ कुछ ब्राह्मण गोत्रों से मिल पाते है। इससे स्पष्ट है कि हिन्दू ला की परिभाषा के अनुसार अग्रवाल जाति के गोत्र नहीं है अर्थात् मिताक्षरा के अनुसार हमारे गोत्र पुरोहितों के नहीं हैं।

इस स्पष्टीकरण के बाद भी यदि ज़िद किया जाय कि हमारे

---

१. आल इन्डिया रिपोर्टर (१९३३) लाहोर, पृ० ५८५।

गोत्र अग्रसेन की संतान और उनके पुरोहितों से है तो विचारणीय होगा कि अग्रसेन के कितने लड़के थे। किंवदन्तियों में इस पर घोर मत भेद है। अनेक स्थानों पर अग्रसेन के ५४ पुत्रोंकी बात लिखी है। क्या हमारे ५४ गोत्र है ? अगर नहीं, तो किन १७ या १८ लड़कों के गोत्र है ? यदि इस प्रश्न के होते हुए भी अग्रसेन के पुत्रों से गोत्र की कल्पना कर ली जाय तो वर्णवाल जाति का, जो अपने को अग्रसेन के द्वितीय पुत्र—वाराक्ष का वंशज कहती है, एक अर्थात् अग्रसेन के द्वितीय पुत्रका ही गोत्र होना चाहिये। पर ऐसी बात नहीं है, वहाँ भी अग्रवाल जाति के प्रचलित प्रायः सभी गोत्र हैं। इससे अग्रसेन पुत्रों से अग्रवाल जाति के गोत्रों के निर्माण की बात स्वतः गलत हो जाती है। वर्णवाल जाति के विकास सम्बन्ध में एक दूसरी किंवदन्ती है कि अग्रसेन के पूर्वज मोहन दास के भाई के वंशज है। यदि इस किंवदन्ती में कुछ भी तथ्य हो तो उससे भी स्पष्ट जान पड़ता है कि हमारे गोत्र अग्रसेन के वंशजों और उनके पुरोहितों के नहीं हैं।

अग्रसेन की संतान और गोत्र

अब अग्रवाल जाति के १८ गोत्र कौन से हैं इस विषय पर भी काफी मतभेद है। नीचे हम अग्रवाल जाति के इतिहास लेखकों द्वारा बताये गये गोत्रों की तालिका उपस्थित कर रहे है जिससे इस कथन पर काफी प्रकाश पड़ेगा।

अग्रवाल जाति के गोत्र

	१ शेरिंग[1]	२ रिसले[2]	३ क्रूक[3]	४ अग्रवैश्य[4] वंशानुकीर्तनम्
१.	गर्ग	गर्ग	गर्ग	गर्ग
२.	गोभिल	गोभिल	गोभिल	गोयिल
३.	गरवाल	गावाल	गौतम	गात्राल
४.	वात्सिल	वात्सिल	वासल	वात्सिल
५.	कासिल	कासिल	कौशिक	कासिल
६.	सिंहल	सिंहल	सैंगल	सिंगल
७.	मंगल	मंगल	मुद्गल	मंगल
८.	भद्दल	भद्दल	जैमिनि	भंदल
९.	दिंगल	तिंगल	तैतरेय	तिंगल
१०.	एरण	ऐरण	औरण	ऐरण
११.	तायल	तायल	धान्याश	धैरण
१२.	टैरण	टैरण	ढेलन	ढिंगल
१३.	ढिंगल	ढिंगल	कौशिक	तित्तल
१४.	तित्तिल	तित्तल	ताण्डेय	मित्तल
१५.	मित्तल	मित्तल	मैत्रैय	तायल
१६.	तुन्दल	तुन्दल	कश्यप	गोभिल
१७.	गोयल	गोयल	मान्डव्य	तुन्दल
१८.	विन्दल	गोयन	नागेन्द्र	गवन

१. शेरिंग : हिन्दू ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स एज रिप्रेज़ेन्टेड इन बनारस।

२. रिसले : दि पीपुल आफ इण्डिया।

३. डब्लू क्रूक : ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स आफ एन० डब्लू० पी० एण्ड अवध भाग १, पृ० १६।

४. अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास, पृ० १२६, १७३।

	५	६	७	८
	भारतेन्दु[1]	उरुचरितम्[2]	रामचन्द्र[3]	वैश्योत्कर्ष[4]
१.	गर्ग	गर्ग	गर्ग	गर्ग
२.	गोइल	गोयल	गोयल	गोइल
३.	गावाल	गावाल	गोयन	गोइन
४.	वात्सिल	कांसिल	मीतल	मीतल
५.	कांसिल	सिंहल	जीतल	जीतल
६.	सिंहल	ढिंगल	सिंगल	सिंहल
७.	मंगल	गवन.	बासल	वांशल
८.	भद्दल		एरण	येरन
९.	तिंगल		कांसल	कांसिल
१०.	ऐरण		कंछल	क्रंछल
११.	टैरण		बुंगल	तिंगल
१२.	ढिंगल		मंगल	मंगल
१३.	तित्तल		बिन्दल	विंदल
१४.	मित्तल		ढेलन	देलण
१५.	तुन्दल		मुधकल	मुधकल
१६.	तायल		टेरण	टेरन
१७.	गोभिल		तायल	तायल
१८.	गवन या गोइन		नागल	नागिल

१. अगरवालों की उत्पत्ति, पृ० ६।

२. अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास, पृ० २०५।

३. अग्रवाल उत्पत्ति।

४. अग्रवाल वैश्योत्कर्ष, पृ० २०।

	९	१०	११	१२
	वैश्योत्कर्ष[1]	वैश्योत्कर्ष[2]	अग्रवालवंश[3]	अग्रवंश[4]
१.	गर्ग	गर्ग	गर्ग	गर्ग
२.	गोहिल	गोहिल	गोइल	गोयल
३.	गालव	गालव	गालव	वांसल
४.	कासिल	वासिल	वासिल	कांसल
५.	कौसिल	कौसिल	कासिल	जींदल
६.	सिंहल	सिंहल	सिंहल	मैथल
७.	मौगिल	मौगिल	मंगल	मंगल
८.	ऐरम्बमैजन	ऐरम्बमैजन	भद्दल	दींदल
९.	तिंगल	तैर	तिंगल	एरन
१०.	तैरन	नितुन्दन	ऐरन	सहंगल
११.	रंगिल	गोभिल	तैरन	कचहल
१२.	तित्तल	जावाहि	टिंगल	तंगल
१३.	मित्तल		तित्तल	कौशल
१४.	नितुन्दन		मित्तल	तायल
१५.	तायल		तुन्दल	तांगल
१६.	गोभिल		तायल	ढालन
१७.	गोइल		गोभिल	मधुकल
१८.	भद्दल		गोइन	गर्ग

१. अग्रवाल वैश्योत्कर्ष, पृ० २० ।

२. वही पृ०२१ ।

३. शालग्राम कवि : अग्रवाल वंश पृ० ८,९ ।

४. डा० रामचन्द्र गुप्त, अग्रवंश पृ० ५० ।

	१३ गुलाबचन्द[1]	१४ दिलवारीवैश्य[2]	१५ मोदी[3]	१६ ब्राह्मणोत्पत्ति[4] मार्तण्ड
१.	गर्ग	गर्ग	गर्ग	गर्ग
२.	गोयल	गोयल	गोइल	गाइल
३.	कछल	मीतल	गावाल	ग्वाल
४.	कांसिल	जिन्दल	वांसिल	वात्सम
५.	बिन्दल	सिंगल	कांसिल	कांसील
६.	ढालन	वांसल	सिंगल	सिंहल
७.	सिंगल	ऐरन	मंगल	मंगल
८.	जिन्दल	कांसिल	विन्दल	भद्दल
९.	मीतल	कंछल	तिंगल	तिंगल
१०.	तिंगल	तिंगल	ऐरण	ऐरण
११.	तायल	मंगल	टेरण	टेरन
१२.	वांसल	विन्दल	ढिंगल	टींगण
१३.	कांसल (टेरन)	टेलण	तित्तल	तित्तल
१४.	तांगल	मुधकल	मित्तल	मित्तल
१५.	मंगल	टेरन	तुन्दल	तुन्दिल
१६.	ऐरन	तायल	तायल	तायल
१७.	मधुकल	नागल	गौभिल	गोभिल
१८.	गोइन	गौन	गौण	गवन

१. गुलाब चन्द एरण : अग्रवाल जातिका प्रामाणिक इतिहास, पृ० २४।

२. लक्ष्मीशंकर विन्दल : दिलवारी वैश्य, पृ० ६।

३. बाल चन्द मोदी : महाराज अग्रसेनका संक्षिप्त जीवन चरित्र, पृ० १०।

४. श्री विष्णु अग्रसेन वंश पुराण [भूतखंड], पृ० ५।

	१७ अग्रसेन वंश पुराण[1]	१८ अग्रसेन वंश पुराण[2]	१९ अग्रसेन पुराण[3]	२० अग्रसेन पुराण[4]
१.	गरग	गर	गर	गर्ग
२.	गोइल	गोयल	गोइल	गोयल
३.	कंछल	वांसिल	मीतल	कच्छल
४.	कासिल	कांसल	जीतल	मंगल
५.	विंदल	सींगल	सींगल	विन्दल
६.	टेलण	जींदल	ऐरन	ढालन
७.	जीतल	ऐरण	कांसल	सिंगल
८.	मीतल	मंगल	कंछल	जिन्दल
९.	तिंगल	मीतल	तिंगिल	मित्तल
१०.	ताइल	मधुकल	मंगल	तुंगल
११.	वांसल	तींगल	मधुकल	कांसल
१२.	टेरण	तायल	टेरण	ताइल
१३.	नागिल	कंछल	तायल	बांसल
१४.	मंगल	नागल	नागिल	नागल
१५.	येरन	विन्दल	विन्दल	मुग्दल
१६.	मधुकल	ढालण	टेरण	ढरन
१७.	सिंघल	इन्दल	वांसल	ऐरन
१८.	गोइन	गवन	गोइन	गवन

---

१. श्री विष्णु अग्रसेन वंश पुराण [जीर्णोद्धार खन्ड] पृ० ६।

२. वही, पृ० ८।

३. वही, पृ० ८।

४. वही, पृ० ६।

	२१	२२	२३	२४
	अमीचन्द[1]	कृष्णकवि[2]	भाट[3]	पंजाब जनगणना[4]
१.	गर्ग	गर्ग	गर	जिन्दल
२.	गोयल	गोइल	मोहना	मिन्दल
३.	वांशल	कच्छल	मंगल	गर
४.	कांसल	मंगल	विन्दल	इरन
५.	जिंदल	विन्दल	ढेलण	ढेरन
६.	मीतल	ढालन	सिंहल	मितल
७.	मंगल	नागिल	जितल	मांसल
८.	विन्दल	जिन्दल	मीतल	मंगल
९.	ऐरन	मीतल	तुंगल	ताहिल
१०.	तायल	तुंगल	मंगल	कांसल
११.	सिंगल	कांसल	तायल	बांसल
१२.	कांछल	ताइल	मंडल	महवार
१३.	तिंगल	वंशल	नागल	गोयल
१४.	कौशल	नागिल	जिन्दल	गोण
१५.	नागल	मुद्गल	ऐरण	सैगल
१६.	टेहलन	ढेलन	ढेरण	
१७.	धैरन	गोइन		
१८.	गोइन			

---

१. श्री अग्रसेन वंश पुराण [भूत खंड] पृ० ६६।

२. वही, पृ० १६, १९।

३. वही, [भविष्य खंड] पृ० १२, १३।

४. पंजाब जन गणना रिपोर्ट १८८३, पृ० ५३३।

उपर्युक्त सूची का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाय तो मालूम होगा कि प्रत्येक लेखक की सूची बहुत अंशों में एक दूसरे से भिन्न है। यह भिन्नता कुछ तो नामों के रूप में है, कुछ में अपरिचित नाम है, कुछ में १८ से कम गोत्रों का उल्लेख है और कुछ में एक ही गोत्र दो बार लिखे गए हैं। इस प्रकार यदि समस्त सूचियों का समन्वय किया जाय तो गोत्रों की नामावली १०२ तक जा पहुँचती है। पाठकों की सुविधा के लिए हम पूरी सूची छाँट कर नीचे दे रहे है।

	गोत्र.	सूची संख्या.
१.	गर्ग	१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२ (२), १३, १४, १५, १६, २०, २१, २२।
२.	गरग	१७।
३.	गर	१८, १९, २३, २४।
४.	गोयल	१, २, ६, ७, १२, १३, १४, १५, २०, २१, २४।
५.	गोइल	४, ५, ८, ९, ११, १५, १६, १७, १९, २२।
६.	गोभिल	१, २, ३, ४, ५, ९, १०, ११, १५, १६।
७.	गोहिल	९, १०।
८.	गौतम	३।
९.	गावाल	२, ४, ५, ६, १५।
१०.	गालव	९, १०, ११।
११.	ग्वाल	१९।
१२.	गरवाल	१।

१३. गवन ४, ५, ६, १८, २० ।

१४. गौन १४ ।

१५. गौण १५, २४।

१६. गोयन,गोइन २, ७, ८, ११, १३, १७, १९, २१, २२।

१७. कासिल १, २, ४, ११, १७ ।

१८. कांसिल ५, ६, ८, १३, १४, १५, १६ ।

१९. कांसल ७, १२, १३, १८, १९, २०, २२, २४।

२०. कंछल ७, १३, १४, १७, १८, १९ ।

२१. क्रंछल ८।

२२. कांछल २१ ।

२३. कच्छल २०, २२।

२४. कचहल १२ ।

२५. कश्यप ३ ।

२६. कौसिल ९, १० ।

२७. कौशल १२, २१ ।

२८. सिंहल १, २, ४, ५, ६, ८, ९, १०, ११, १६, २३ ।

२९. सिंगल,सींगल ७, १३, १४, १५, १८, १९, २०, २१।

३०. सिंघल १७ ।

३१. सैगल ३, २४।

३२. सहंगल १२ ।

३३. विन्दल १, ७, ८, १३, १४, १५, १७, १८, १९, २०, २१, २२, २३।

३४. वुङ्गल १३ ।
३५. वांसल,वांशल ८, १२, १३, १४, १७, १९, २०, २१, २४।
३६. वांसिल १५, १८।
३७. वंशल २२ ।
३८. वासिल ९, १०, ११।
३९. वासल ३, ७।
४०. वात्सम १६ ।
४१. मित्तल,मीतल १, २, ४, ५, ७, ८, ९, ११, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०।
४२. मैत्रेय ३ ।
४३. जींदल,जिंदल १२, १३, १४, १८, २०, २१, २२, २३, २४।
४४. जीतल ७, ८, १७, १९, २३ ।
४५. मङ्गल १, २, ४, ५, ७, ८, ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, २२, २३ (२), २४ ।
४६. मंडल २३ ।
४७. मिन्दल २४ ।
४८. मांसल २४ ।
४९. मुद्‌गल,मुग्दल ३, २०, २२ ।
५०. मधुकल १२, १३, १७, १८, १९।
५१. मुधकल ७, ८, १४ ।
५२. मौगिल ९, १०।

५३. कौशिक ३, २।

५४. मैथल १२।

५५. मान्डव्य ३।

५६. भदल,भद्दल १, २, ४, ९, ११, १६।

५७. भंदल ४।

५८. तंगल १२।

५९. तांगल १२, १३।

६०. तिंगिल १६।

६१. तिंगल २, ४, ५, ८, ९, ११, १३, १४, १५, १६, १७, १८, २१।

६२. तुंगल १,२,२०,२२,२३।

६३. तुंदल ४,५,११,२५।

६४. तुन्दिल १६।

६५. दिंगल १।

६६. दींदल १२।

६७. टिंगल ११।

६८. टीगण १६।

६९. ढिंगल १,२,४,५,६,१५।

७०. तित्तल २,४,५,९,११,१५,१६।

७१. तित्तिल १।

७२. तायल १, २, ४, ५, ७, ८, ९, ११, १२, १३, १४, १५, १६, १८, १९, २१, २३।

७३. तैतरेय ३ ।

७४. ताण्डेय ३ ।

७५. ऐरण,ऐरन २, ४, ५, ११, १४, १५, १६, १८, १९, २०, २१, २३, २४ ।

७६. एरण, एरन १,७,१२,१३ ।

७७. येरन ८,१७ ।

७८. औरण ३ ।

७९. टेरन ७,८,१४ ।

८०. टेलण ८,१४,१७ ।

८१. ढरन २० ।

८२. ढालन १२,१३,१८,२०,२२ ।

८३. ढेरण २३,२४ ।

८४. ढेलण २३ ।

८५. ढेलन ३,७,२२ ।

८६. तैर १० ।

८७. तैरन ६,११ ।

८८ धैरण ४ ।

८९. धैरन २२ ।

९०. टेहलन २१ ।

९१. नागल ७,१४,१८,२०,२१,२३ ।

९२. नागिल ८,१७,१९, २२ (२) ।

९३. नागेन्द्र ३ ।

९४. इन्द्‌ल १८।

९५. रंगिल ९।

९६. नितुन्दन ९, १०।

९७. मोहना २३।

९८. महवार २४।

९९. जावार १०।

१००. जैमिनि ३।

१०१. ऐरम्ब मैजन ९, १०।

१०२. धान्याश ३।

उपर्युक्त सूची में अनेक नामों में सामञ्जस्य देख कर शायद कहा जाय कि मैंने लेखकों द्वारा लिखित एक ही गोत्र के उच्चारण भेद को एक न मान कर व्यर्थ १०४ नामों का वितण्डा खड़ा किया है। इसलिए कुछ कहने के पूर्व उनका दूसरा वर्गीकरण भी उपस्थित कर देना उचित होगा।

१. गर्ग, गरग, गर।

२. गोयल, गोइल, गोभिल गोहिल।

३. गौतम।

४. गावाल, गालव, ग्वाल, गरवाल।

५. गवन, गौन, गौण, गोयन, गोइन।

६. कासिल कासिंल, कांसल, कंछल, कांछल, कच्छल, कचहल, कश्यप।

७. कौसिल, कौसल, कौशिक।

८. सिंहल, सिङ्गल, सींङ्गल, सेंगल, सहङ्गल ।

९. विन्दल, वुङ्गल ।

१०. वांसल, वांशल, वांसिल, वंशल, वासिल, वासल, वात्सम ।

११. मित्तल, मीतल, मैत्रेय ।

१२. जिन्दल, जीतल, जींदल ।

१३. मङ्गल, मण्डल, मिन्दल, मांसल ।

१४. मुद्‌गल, मुग्दल, मुधकल, मधुकल, मौगिल ।

१५. मैथल ।

१६. माण्डव्य ।

१७. भदल, भद्दल, भन्दल ।

१८. तङ्गल, ताङ्गल, तिंगल, तिंगिल, तुङ्गल, तुन्दल, तुन्दिल, दिंगल, दींदल, टिंगल, टींगण, ढिंगल ।

१९. तित्तिल, तित्तल ।

२०. तायल, ताइल, तैतरेय, ताण्डेय ।

२१. ऐरण, ऐरन, एरण, एरन, येरन, औरन ।

२२. टेरन, टेलण, ढरन, ढालन, टेरण, ढेलण, ढेलन, तैर, तैरन, धैरन, धरैन, टेहलन ।

२३. नागल, नागिल, नागेन्द्र ।

२४. इन्दल ।

२५. रङ्गिल ।

२६. नितुन्दन ।

२७. मोहन।

२८. जावाहि।

२९. ऐरम्ब मैजन।

३०. जैमिनि।

३१. धान्याश।

३२. महवार।

अगर नाम सादृश्य के आधार पर किये गये इस वर्गीकरण के प्रत्येक वर्ग को एक गोत्र का नाम माना जाय, जिसकी मान्यता से मुझे सन्देह है, तो भी गोत्रों की सूची में ३२ नाम आते हैं, जब कि हमारे गोत्र केवल १७॥ या १८ कहे जाते हैं। प्रश्न उपस्थित होता है कि इनमें १८ गोत्र कौन से वास्तविक हैं। डाक्टर सत्यकेतु के शब्दों में अग्रवालों में गोत्र जीवित जागृत है। वे अब तक लोगों को स्मरण ही नहीं है वरन व्यवहारिक जीवन में भी उनका प्रतिदिन प्रयोग होता है। विशेषत: सगाई विवाहादि के निश्चय में तो उसके बिना कार्य ही नहीं चल सकता। विवाह सम्बन्ध निश्चय करते हुए अग्रवाल लोग केवल पिता का गोत्र ही नहीं बचाते अपितु माता का भी गोत्र बचाते हैं। इसलिए प्रत्येक परिवार अपने गोत्र को स्मरण रखता है[१]। ऐसी अवस्था में ऊपर बताये १०२ अथवा ३२ गोत्र नामों में से किसी को गलत कहना कठिन है। प्रत्येक लेखक ने गोत्रों को सङ्कलित

५१—सत्यकेतु विद्यालङ्कारः अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास पृ० १२७।

करते समय किसी न किसी रूप में छान बीन अवश्य की होगी, ऐसी स्वभावतः आशा की जाती है। इसके लिखने में उनके पास पास कोई न कोई आधार अवश्य रहा होगा। जैमिनि और धान्याश के सम्बन्ध में आपत्ति की जा सकती है क्योंकि उसका उल्लेख केवल क्रूक ने किया है, और उसके नामों के सम्बन्ध में डाक्टर सत्यकेतु की आपत्ति है कि वे अग्रवालों में कहीं प्रचलित नहीं हैं। उनका कहना है कि सम्भवत: किसी पण्डित ने प्रचलित गोत्रों के शुद्ध संस्कृत नाम ढूंढने का प्रयास किया होगा, और उसी के आधार पर क्रूक ने अपनी सूची में दे दिया होगा। जो कुछ भी हो, इतनी विस्तृत सूची में से वास्तविक १८ नामों का ढूँढना और उन्हें स्थापित करना अग्रवाल जाति के इतिहास के दृष्टि से आवश्यक है।

हम यहाँ इसका प्रयास नहीं करना चाहते। उसमें काफी परिश्रम की आवश्यकता है जो इस समय सम्भव नहीं है। यहाँ हम केवल प्रत्येक वर्ग में आये नामों पर एक हलकी सी दृष्टि डाल लेना आवश्यक समझते हैं। हम यह अनुमान कर लेते हैं कि कि प्रत्येक वर्ग में दिया हुआ नाम किसी एक ही गोत्र का स्थान भेद से प्रचलित नाम होगा और प्रत्येक लेखक ने उसे अपने स्थान में प्रचलित नामों के अनुकूल ही सङ्कलित किया होगा। डा० सत्यकेतु का भी यही मत है। उनका कहना है कि एक ही गोत्र कहीं वन्सल, कहीं वान्सल, कहीं वत्सिल और कहीं वात्सिल या वासल कहा जाता है। उनका यह कहना कुछ गोत्रों के सम्बन्ध में ठीक हो सकता है पर यदि उपर्युक्त सूचियों पर ध्यान

दिया जाय और वर्गीकरण की छान बीन की जाय तो ज्ञात होगा कि एक वर्ग में आए नाम एक गोत्र के द्योतक नहीं है। अनेक लेखकों ने अपनी तालिका में ऐसे दो वा अधिक नामों को भिन्न भिन्न गोत्र के रुप में गिनाया है। यथा—

वर्ग	गोत्र	लेखक सूची
२	गोयल और गोभिल	१, २
६.	कान्सिल और क्रंछल	८
६.	कान्सल और कंछल	७,१९
६.	कान्सल और कचहल	१२
६.	कान्सल और कच्छल	२०,२२
६.	कान्सिल और कंछल	१३,१४
६.	कासिल और कंछल	१७
९.	विन्दल और वुङ्गल	७
१२.	जींदल और जीतल	२३
१३.	मङ्गल और मण्डल	२३
१८.	तङ्गल और ताङ्गल	१३
१३.	मिन्दल और मान्सल	२४
१८.	दिङ्गल, ढिङ्गल और तुङ्गल	१
१८.	तुङ्गल, ढिंगल और तिंगल	२
१८.	ढिंगल और तिंगल	४,५,१५
१८.	टींगण, तिंगल और तुण्डल	१६
१८.	टिंगल और तिंगल	११

१८.	तांगल और दींदल	१२
१८.	तुन्दल और ढिंगल	४,५
२२.	टेरन, तेलण	८,१४
२२.	ढेरण और ढेलण	२३
२२.	ढालन, ढेलन और ढेरन	२२
२२.	ढरन और ढालन	२०

इस तालिका को देख कर कहना पड़ेगा कि या तो वस्तुतः ये भिन्न भिन्न गोत्र हैं अथवा हम अपने गोत्रों के नामों से अनभिज्ञ हैं और उनका नाम इतना विकृत हो गया है कि लोगों ने उसे दो गोत्र मान लिया है। इस कथन का प्रत्यक्ष उदाहरण कुछ वर्ष पूर्व एक विवाह के अवसर पर गोरखपूर जिले में देखने को मिला। एक सज्जन के यहाँ बिहार के एक जिले से बारात आई। गोत्रोच्चार के समय एक पक्ष ने गोत्र का उच्चारण सिंघल और दूसरे पक्ष ने सिंगिल किया। दोनों नाम मुझे एक जान पड़े और सगोत्र विवाह की कल्पना अग्रवाल जाति में नहीं की जा सकती, इसलिए मैंने तत्काल ही शङ्का प्रकट की। उस समय दोनों पक्ष इस कथन पर दृढ़ हो गये कि दोनों उच्चारण दो भिन्न गोत्रों के हैं। इस प्रकार आज अज्ञान वश अनेक स्थानों पर सगोत्र विवाह गोत्र के अनाचार से होने लगे हैं। अतएव आवश्यक है कि गोत्रों के सम्बन्ध में अन्वेषण किया जाय। आशा है उत्साही पाठक मेरे इन तथ्यों के आधार पर समुचित खोज करेंगे।

३

विस्तार, भेद और शाखा।

अग्रवाल जाति के पूर्वज कब तक अगरोहा रहे यह कुछ भी ज्ञात नहीं। ऐसा सा जान पड़ता है कि जब दशवीं शताब्दी के अन्त में भारतवर्ष पर मुसलमानों के आक्रमण हुए उस समय ११९४ या ९५ में शहाबुद्दीन गोरी ने अगरोहे पर आक्रमण किया था। मालूम होता है उसी समय वहाँ के निवासी इधर उधर बिखरने लगे और अन्यत्र जा कर बसने लगे। परिणाम यह हुआ कि समय के साथ वे अगर या अगर के रहने वाले अग्रवाले या अग्रवाल कहे जाने लगे और कालान्तर में वे लोग एक जाति समझे जाने लगे और उनका निवास बोधक नाम, जाति बोधक बन गया और धीरे धीरे इस जाति के स्थान भेद, आचार भेद और धर्म भेद से कई शाखायें हो गईं।

प्रवास और भेद

स्थान भेद

अगरोहा के ध्वस्त होने पर जब वहाँ के लोग अन्य स्थानों में जाकर बसने लगे तो उनका एक बहुत बड़ा भाग दक्षिण में राज-

पूताना की तरफ चला गया। वे मारवाड़ में जाकर बस गये और मारवाड़ी अग्रवाल कहलाने लगे। भारत के मध्य-कालीन इतिहास में मारवाड़ का व्यापारिक दृष्टि से बड़ा महत्व था, अफगान और मुगल शासकों की राजधानी दिल्ली थी। दिल्ली से जो मार्ग पच्छिमी समुद्र-तट के बन्दरगाहों को जाता था वह मारवाड़ से गुजरता था। इस व्यापारिक मार्ग में मारवाड़ ठीक बीच में पड़ता था। दिल्ली आने जाने वाले सभी यात्रियों का यह पड़ाव सा था। इस कारण मारवाड़ देशवासियों को व्यापार क्षेत्र में उन्नति करने का अवसर मिला। मारवाड़ निवासी अग्रवालों ने इसका पूरा लाभ उठाया और उनमें उस अपूर्व व्यापारिक प्रतिभा का विकास हुआ जिनके कारण वे आज भारत में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। अन्य अग्रवालों से पृथक मारवाड़ के सुदूर मरुस्थल में बस जाने के कारण उनमें कुछ अपनी विशेषताओं का पृथक विकास हुआ। उनकी बोलचाल, रहन सहन रीति रिवाजों में भेद आ गया और वे अन्य अग्रवालों से पृथक होगये, और इस कारण अन्य अग्रवालों से विवाह सम्बन्ध आदि करने में संकोच करने लगे।

मारवाड़ी अग्रवाल

जो लोग मारवाड़ के अतिरिक्त अन्यत्र बसे वे देसवाली अग्रवाल के नाम से कहे जाते हैं। इन अग्रवालों में भी देश भेद से दो भेद पुरबिये और पछहिये हैं। यह भेद केवल पूरब में रहने वाले अग्रवालों में ही है। पूर्वी संयुक्त प्रान्त और बिहार में जो अग्रवाल कई

देसवाली अग्रवाल

शताब्दियों से रह रहे हैं वे अपने को पुरबिए अग्रवाल कहते हैं और जो लोग पच्छिमी युक्तप्रान्त से पिछले डेढ़ दो शताब्दियों में आए वे पछहिये अग्रवाल कहे जाते हैं। यह दोनों केवल नाम भेद है, खानपान विवाह शादी में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं है, पर कभी कभी पंचायतों में इन भेदों को लेकर वितण्डा खड़ा हो जाया करता है।

पच्छिमी युक्तप्रान्त और पंजाब में रहने वाले अग्रवालों में भी इसी प्रकार के कई प्रादेशिक भेद हैं, यथा—

प्रादेशिक उपभेद

महामिये, जांगले, हरियालिये, बागड़ी, सहरालिए, लोहिये आदि है। महामिये अग्रवाल वे हैं जो पहले अगरोहे से आकर माहिम में बसे फिर वहाँ से अन्यत्र गये। इसी तरह भटिण्डे के आसपास के निवासी जांगले, हरियाना के निवासी हरियालिए, बागड़ के निवासी बागड़ी, सहराला जि० लुधियाना के सहरालिए और लोहागढ़ (जि० रोहतक) के लोहिये कहलाने लगे। इनके अतिरिक्त मेवाड़ी, काइयाँ आदि अन्य कई भेद भी देश भेद के कारण हुआ है। किन्तु इन सब अग्रवालों में परस्पर खानपान तथा विवाह सम्बन्ध होता है, इनमें रीति रिवाजों और रहन सहन में भेद अवश्य है किन्तु पृथक प्रदेशों में अधिक दिनों रहने के कारण ही है।[१]

अग्रवाल जातिका एक काफी बड़ा भाग कुमायूँ की पर्वतों में निवास करता है, जो अपने नामों के साथ 'शाह' अल्लका प्रयोग

१—सत्यकेतु विद्यालंकार : अग्रवाल जातिका प्राचीन इतिहास पृ० २०-२२

करता हैं। ये लोग गर्ग गोत्रीय हैं। और केवल एक गोत्र के होने तथा अन्य अग्रवालों से सम्पर्क स्थापित न होने के कारण इनमें गोत्र भेद नहीं है और वे आपस में ही विवाह शादी करते हैं। इन लोगों ने पर्वत में कब और क्यों निवास ग्रहण किया यह ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव में कहना कठिन है।[1]

पार्वतीय अग्रवाल

अग्रवाल जाति का एक भाग बम्बई प्रान्त में भी निवास करता है जो गुजराती अग्रवाल के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये लोग अगरोहे के विध्वंस से पूर्व ही अगरोहा छोड़कर मालवा प्रदेश में चले गए थे इस कारण अपने को आगर का मूल निवासी मानते हैं।[2]

गुजराती अग्रवाल

अग्रवाल जाति से भिन्न कुछ ऐसी भी वैश्य जातियाँ है जो अपने को अग्रवाल जाति की शाखा मानती हैं। उनका कहना है कि स्थान भेदके आधार पर वे स्वतंत्र जातियाँ मानी जाने लगी हैं। ऐसी जातियों में वर्णवाल जाति प्रमुख है। यह जाति अपने को अग्रसेन वंशज कहती है। उनका कहना है कि वे लोग अगरोहा से निकल कर बरन देश में आकर बसे और वहाँ के नाम पर बरनवाल नाम से प्रख्यात हुए। कहा जाता है कि बरन, बुलन्दशहरका प्राचीन नाम

वर्णवाल

१-यह सूचना हमें श्री मदन मोहनजी अग्रवाल एम० ए० (काशी) से प्राप्त हुई है।

२-देखिये--पीछे पृ० १२८।

है। आज भी सरकारी कागजों में एक तहसील का नाम बरन लिखा जाता है।[१]

आचार भेद

अग्रवाल जाति में अनेक भेद आज आचार और समाज संगठन के कारण बन गए हैं जिनमें बीसा और दस्सा प्रमुख है। इस भेदको कुछ लोग नस्ल या रक्त शुद्धि के आधार पर मानते हैं।

बीसा और दस्सा

सामान्यत: लोग यह समझते हैं कि जो अग्रवाल रक्त की दृष्टि से पूर्णतया शुद्ध हैं वे बीसा हैं और जो कुल मर्यादा के प्रतिकूल किसी अन्य जाति से उत्पन्न प्रतिलोम अथवा अनुलोम सन्तान है वे रक्तकी दृष्टि से शत-प्रति-शत अग्रवाल न होने के कारण आधे अर्थात् दस्से अग्रवाल कहे जाते हैं। मध्य तथा बम्बई प्रान्तमें कुछ अग्रवाल पंजे भी कहे जाते हैं, जिनकी स्थिति दस्सों से भी नीची है। उनमें रक्त शुद्धता चौथाई ही समझी जाती है।[२] बीसा और दसा का यह भेद एक पृथक जाति के समान है। बीसा और दसा अग्रवालों में परस्पर विवाह सम्बन्ध नहीं होता और परस्पर खान पान में भी अनेक रुकावटें हैं।

दस्से लोग बीसे और दस्से के भेदको रक्तका आधार नहीं मानते। उनका कहना है कि अग्रसेन के पुत्रोंका विवाह दशानन

१–भोलानाथ : बरनवाल वैश्य इतिहास, पृ० ३६।

२–सत्यकेतु विद्यालंकार : अग्रवाल जातिका प्राचीन इतिहास, पृ० २४।

और बिशानन नामक दो राजाओं की कन्याओं से हुआ था। दशानन पुत्रियोंकी संतान दस्सा और बिशानन पुत्रियोंकी संतान बीसे कहलाये। इस मतकी पुष्टिका कोई आधार ज्ञात नहीं होता। कुछ लोग कहते हैं कि जो सन्तान अग्रसेनकी नाग पत्नियों से हुई वह बीसा और अन्य रानियोंकी संतान दस्सा कहलाई। इस रूपक में सत्यता कहाँ तक है, हम नहीं जानते; किन्तु यदि उसमें लेश मात्र भी सत्यता हो तो इससे यही ध्वनि निकलती है कि यह भेद रक्त-भेदके आधार परही है। नागलोग वैश्य थे यह बौद्ध ग्रन्थ मंजु श्री मूल कल्प नामक पुस्तक से प्रकट होता है।[1] शुद्ध सन्तान बीसे और अन्य दस्से कहे गये। इस कथनकी पुष्टि अन्य जातियों में पाये जाने वाले बीसा, दस्सा, पंजा और ढइया नामक भेदों से भी होती है। किन्तु मैं इन सबको रक्तभेद मानने में थोड़ा संकोच करता हूँ। यदि इन भेदोंका कारण रक्त भेद माना जाय तो कहना होगा कि इसका आरम्भ असवर्ण-विवाह-निषेध के दिन ही हुआ होगा। यदि ऐसा होता तो इनमें भेदका विकास क्रम उसी ढंगका होता जिस ढंगका भेद हम पहले जातियों के विकास के प्रकरण में बता आए हैं। ऐसी अवस्था में दस्सा नामक जाति धर्मशास्त्रों के अनुसार स्वयं एक वर्णसंकर जाति होती, पर ऐसा नहीं है। इसलिए जान पड़ता है कि यह भेद केवल आचार के आधार पर बना है।

प्राचीन काल में सामाजिक अपराधों के लिए दण्ड का स्वरूप समाज से बहिष्कार रहा है और यह रूप आज तक पंचायतों में

१—मंजु श्री मूल कल्प, पृ० ५५-५६।

वर्तमान है। आज से कुछ वर्ष पहले तक अग्रवाल समाज से जो लोग किसी कारण वश अलग कर दिये जाते थे वे बीसा कहलाने के अधिकार से वंचित हो जाते थे। उन्हें लोग दस्सा कह कर सम्बोधित करते रहे हैं। प्राचीन काल में भी यही व्यवस्था रही होगी। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में सामाजिक दंड व्यवस्थाका उल्लेख है। उससे जान पड़ता है कि महापातकी अभिशप्त लोग ग्राम से बाहर झोपड़ियाँ बना कर एक साथ रह सकते थे। यह समझते हुए कि इस प्रकार रहना न्यायानुकूल है वे एक दूसरे के लिए यज्ञ भी कर सकते थे। एक दूसरे को पढ़ा सकते थे और परस्पर विवाह भी कर सकते थे[१]। इस व्यवस्थाको देखते हुए सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि समाज बहिष्कृत लोगोंका अपना एक समाज बन जाना असम्भव नहीं है, जब कि उन्हें अपने में प्रत्येक प्रकार की सामाजिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो, ऐसी अवस्था में यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि दस्सा अथवा पंजा कहलाने वाला वर्ग इसी प्रकारका वर्ग है। इनमें रक्त भेद सरीखा प्रत्यक्ष दोष शायद नहीं है। हो सकता है कि इसमें कुछ लोग ऐसे भी हों जिनमें रक्त दोष हो पर वे इस वर्ग में पीछे से आए होंगे। दस्से लोगों के भी विभिन्न स्थानों पर विभिन्न नाम है।

दिलवारी अथवा गिन्दौड़िया (गन्धारिया) वैश्य भी अपने को अग्रवाल कहते हैं, और कुछ लोग इसका दस्साका एक भेद बताते हैं, किन्तु अग्रवाल बन्धु पत्रिका में प्रकाशित एक टिप्पणी से ज्ञात

१. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १।१०।२६।८–६.

दिलवारी अथवा गिन्दौड़िया वैश्य

होता है कि इस समुदाय का दस्सा अथवा कदीमियों से कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि दस्सों से इनका बेटी व्यवहार आदि सब कृत्य पृथक है और रीति रिवाजों में भी अन्तर है।[1] इस वर्ग के विकास के सम्बन्ध में कई मत प्रचलित है। इनके गांधारिया नामका सम्बन्ध कुछ लोग अग्रसेन के किन्हीं वंशज गंधरव से बताते हैं और कहते है गिन्दौड़िया उससे अपभ्रंश होकर बना है।[2] किन्तु कुछ लोगोंका कहना है कि मेरठ, दिल्ली, बुलन्दशहर के आस पास के रहने वाले अग्रवालों में विवाह तथा वृद्ध लोगों की मृत्युके अवसर पर निमन्त्रण के साथ साथ गिन्दौड़ा नामक मिठाई बँटती थी पश्चात मेरठ में एक सभा करके गिन्दौड़ा बाँटना बन्द कर दिया गया। कुछ लोग बन्द करने के विरुद्ध थे। उन्होंने इस प्रथाको कायम रक्खा जिसके कारण वे और उनकी संतान गिन्दौड़िये कहे जाने लगे[3]। यह कथन पूर्व कथनकी अपेक्षा अधिक बुद्धिग्राह्य है। कौम मारूफः जीवन चरित्र महाराज अग्रसेनके लेखक का कहना है कि इनका दूसरा नाम दिलवारी भी है जो दिल्लीवाल का रूपान्तर है[4]।

---

१. अग्रवाल बन्धु पत्रिका (आगरा), वर्ष १ अंक ५.

२. लक्ष्मीशंकर बिन्दल—दिलवारी वैश्य, पृष्ट १६।

३. अग्रवाल हितैषी (आगरा), वर्ष ३ अंक ४ पृ० १८।

४. रघुबीर सिंह—कौम मारूफः जीवनचरित्र महाराज अग्रसेन, पृ० १६६–१६७।

दस्सों का भेद समझा जाने वाला एक और वर्ग कदीमी नाम से प्रसिद्ध है जो मुख्यतः अलीगढ़, खुर्जा, और बुलन्दशहर में पाया जाता है। इस वर्ग के लोग स्वयं अपने को दस्सा का भेद नहीं मानते और दस्सों को हेय दृष्टिसे देखते हैं। इनका कहना है कि ये लोग विशुद्ध अग्रवाल हैं।

कदीमी अग्रवाल

कुछ तो बीसों को भी अपने से नीचा मानते है, ये कहते है कि इनके पूर्वज किसी युद्ध में लड़ने गये और राज्य अन्य लोगों पर छोड़ गये। ये लोग युद्ध ही में थे कि अन्य लोग देश छोड़ भाग आए। युद्ध के पश्चात जो लोग वहीं रह गये वे कदीमी अर्थात् पुराने स्थान पर रहने वाले कहे जाने लगे। इस कथन के सत्यासत्य के निर्णय के लिए कोई भी सामग्री अब तक उपलब्ध नहीं है पर हो सकता है इसमें कुछ तथ्य हो। इस वर्ग के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती ऐसी भी है कि ये राजा दशाननकी कन्यायोंकी संतान हैं, उनकी कन्यायोंको विशाननकी कन्याओं से पहले संतति हुई इसलिए वे कदीमी अथवा आदि अग्रवाल कहे गये। पर इस कल्पना में कोई तथ्य नहीं जान पड़ता।

इसी प्रकार आचार भेद से विकसित एक उपवर्ग राजाशाही, राजाकी बिरादरी या राजवंशी नाम से प्रसिद्ध है। इसके विकास के सम्बन्ध में किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि अग्रसेनकी नागपत्नी के वंशज सामान्य अग्रवाल और राजकन्या से उत्पन्न सन्तान राजवंशी कहलाई इस कारण कुछ लोग इसको दस्सा की श्रेणी में गिनने की

राजवंशी अथवा राजशाही

चेष्टा करते हैं। किन्तु डाक्टर सत्यकेतु इस कथन को निस्तत्व कहते हैं। आपका कहना है कि आरम्भ में इनमें और सामान्य अग्रवालों में वस्तुतः कोई भेद न था। १८वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में फरुखसियर के समय जानसढ़ निवासी रतन चन्द उन्नति करते करते मुगल सम्राट के दीवान के पद पर जा पहुँचे और उनको राजाका खिताब मिला। मुगल साम्राज्य के प्रधान सेनापति द्वय (सैयद बन्धु) सैयद अब्दुल खाँ और सैयद हुसेन अली खाँ से इनकी अति घनिष्टता थी। इन्हीं लोगों की उन्नति के साथ साथ उनकी भी उन्नति होती गई। मुसलमानों के इस मेल जोलके कारण राजा रतन चन्दके रहन सहन पर जो सामयिक प्रभाव पड़ा और उनमें जो परिवर्तन हुए वह अन्य अग्रवालों को पसन्द नहीं आया और उन्होंने उन्हें अपने समाज से बहिष्कृत कर दिया। राजा रतन चन्द ने इस बहिष्कार की उपेक्षा की और अपने कुछ साथियों के साथ अपनी पृथक एक बिरादरी बना ली, यही बिरादरी राजा रतन चन्द के साथी होने के कारण राजाकी बिरादरी, राजशाही और पश्चात राजवंशी कही जाने लगी।[१] इस कथन के सम्बन्ध में डाक्टर सत्यकेतु ने अपने एक पत्र में मुझे लिखा है कि यह कथन राजशाही अग्रवालों के प्रमुख पुरुषों से बातचीत करने से ज्ञात होता है।[२]

१. सत्यकेतु विद्यालंकार—अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास, पृ० २६।

२. लेखक के नाम ता० २०।११।४० का पत्र।

इस कथन पर दृष्टि डालते ही मनमें एक प्रश्न उठता है कि जब राजा रतन चन्द के कुछ साथियों के समूह से राजाशाही या राजवंशी अग्रवालोंका विकास हुआ तो निश्चय ही उनके गोत्रोंकी संख्या चार छ से अधिक न होगी किन्तु वे भी अपने १७ या १८ गोत्र बताते हैं। यदि आज किसी बड़े से बड़े नगर के अग्रवाल-समाज पर दृष्टि डाला जाय तो वहाँ आपको पाँच सात गोत्रों से अधिक गोत्रके अग्रवाल नहीं मिलेंगे। जब वर्तमान समय में आवागमन के वैज्ञानिक एवं सुगम साधनों के होते हुए भी सब गोत्र एकत्र एक स्थान पर नहीं मिल सकते तो उस काल में जब आवागमन के इतने साधन नहीं थे निश्चय ही राजा रतन चन्द के मित्रों और सम्बन्धियों के निवासकी परिधि संकुचित रही होगी और उनके गोत्र भी सीमित रहे होंगे, ऐसी अवस्था में दो ही बातें सम्भव है:—

१. राजवंशी राजा रतनचन्द के समूह से विकसित समाज नहीं है, क्योंकि वे अपने १७॥ या १८ गोत्र बताते हैं। या

२. राजवंशियों के १७॥ गोत्र नहीं हैं।

इस समस्या पर विचार कर ही रहा था कि मेरी दृष्टि में बुलन्दशहर के आहार नामक स्थान से प्राप्त महाराज भोज प्रतिहार के समयका एक शिलालेख आया जो इस समय लखनऊ के प्रान्तीय संग्रहालय में संग्रहीत है। इसमें हर्ष संवत २८७ (वि० सं० ९४३) के कुछ पूर्व और पश्चात के, श्री कंचन देवीके मन्दिर की सफाई लिपाई, केसर, फूल, धूप, दीप, ध्वजा, सिन्दूर आदि व्यय के लिए दिए गये ८ दानपत्र अंकित है, उस शिला लेख के १४-१६ वीं

पंक्तियों में जो दानपत्र अंकित है उसमें सहाक नाम एक 'राजक्ष-तृयान्वय वणिक' का उल्लेख है।[१] 'राजक्षतृयान्वय वणिक' शब्द स्पष्ट रूप से 'राजवंशी वणिक' का तात्पर्य व्यक्त करता है[२]। अब यदि वर्तमान वणिक वैश्य जातियों की सूची पर दृष्टि डाला जाय तो 'राजवंशी अग्रवाल' के अतिरिक्त दूसरी कोई वैश्य जाति इस नामको सार्थक करती नहीं ज्ञात होती। अतएव सम्भव है कि उक्त अभिलेख में 'राजक्षतृयान्वय वणिक' से तात्पर्य वर्तमान राजवंशी अग्रवालों से ही हो। इस धारणासे उक्त म्युजियमके क्युरेटर डा० वासुदेव शरण अग्रवाल भी सहमत हैं। अतएव मेरा अनुमान है कि राजवंशी अग्रवालका विकास इतना नवीन नहीं है जितना कि डा० सत्यकेतु मानते हैं और साथही मैं समझता हूँ कि उसका विकास

---

१. तथातीत संवत २८७ मार्गशिर बदि ११ अस्यां तिथाविह श्री तत्तानन्दपुरे प्रतिवसमान राजक्षतृयान्वयय: वणिक सहाक इच्छुक पुत्र इहैव। पतनाभ्यन्तरे पूर्व हट्ट मध्य प्रदेशे स्वकीयक्रयक्रीता पश्चिमाभिमुखा वारीत्रिप्रकोष्ठा तलार्द्ध तालकपट्टकसमस्तोच्छ्य समेतास्या वाघ्यांघाट्टा यत्र भवन्ति पूर्वतः वणिक घालक सत्कगृहं दक्षिणतो श्री गन्ध श्रीदेव्या वारी पश्चिमतो हट्ट मार्गः उत्तरतो वणिक् जयन्तिसुत सर्वदेव सत्कावारी एवं चतुराघाट्ट विशुद्धा पश्चिमाभिमुखावास श्री कनक श्रीदेव्याद्द्रवेण सौवर्णिक महाजनेन क्रयक्रीता क्षतृय साहाकेन नवनवति-वर्षाण्यां धावत्यन्तिक विक्रय पत्रेण विक्रीता संप्रदत्ता च।

—माधुरी, वर्ष ४, खं० १, सं० १, पृ० ५८–५९

२. श्री गोपालदत्त पन्त शास्त्री ने इसका भाव राजशाही वैश्य लिया है। —माधुरी, वर्ष ४, खं० १, सं० १, पृ० ६१

स्वतंत्र हुआ है। चूंकि वे मेरी धारणाका स्वीकार करने में संकोच करते हैं और मैं भी उनकी धारणा को अभी अमान्य नहीं कह सकता, इसलिए जबतक इस पर विशेष प्रकाश न पड़े, उपर्युक्त दानों कथन के आधार पर यह अनुमान करना उचित होगा कि वर्तमान राजाशाही, राजवंशी और राजाकी बिरादरी नाम से पुकारी जाने वाली अग्रवाल जातिका भाग दो धाराओं से विकसित होकर पश्चात किसी समय एक में मिला होगा। एक ओर राजा रतन चन्द के समूह के लोग राजाकी बिरादरीनाम से विकसित हुए होंगे और दूसरी ओर राजक्षत्तृयान्वय कहा जाने वाला वैश्य समाज मुसलिम काल में राजाशाही अथवा राजवंशी कहा जाने लगा होगा। पश्चात किसी अवसर पर दोनों मिलकर एक हो गए होंगे। इसका अनुमान राजा रतन चन्द से विकसित बताने वाली अनुश्रुतियों से भिन्न अन्य अनुश्रुतियों से भी होता है। वे इस कल्पना की ओर संकेत करती सी जान पड़ती हैं।

बहतरिया वैश्य भी अपने को आचार और व्यवहार-भेद से विकसित अग्रवाल जाति का अंग कहते हैं। इनके सम्बन्ध में

बहतरिया

कहा जाता है कि अलक्सान्दर के अगरोहा आक्रमण के समय गोकुलचन्द और रतनचन्द नामक दो व्यक्ति अपने सत्तर साथियों के साथ विश्वासघात कर उससे जा मिले थे। कुछ लेखक इन्हें मुहम्मद बिन कासिमका सहायक बताते हैं। बात जो भी हो, इन विश्वासघाती ७२ परिवारों से अग्रवालों ने अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया और उन

७२ परिवारोंकी संतान बहतरिया या बहोतरिया नामसे कालान्तर में एक स्वतन्त्र जाति बन गई। पर इस कथन का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। श्री चन्द्रराज भंडारी ने इन लोगों की संतान की जाति का नाम कुलाली और लोहिया बताया है। सभावतः यह दोनों बहतरिया के ही भेद है।

गोकुलचन्द और रतन चन्द या रतनसेन के साथियों या वंशजों से विकसित शाखा के सम्बन्ध में एक भिन्न कथन भी है। उसके अनुसार रतनसेनकी संतति से राजवंशी हुए (यह कथन पूर्वोक्त मुगलकालीन रतनचन्द के नाम सामंजस्य के कारण प्रचलित हुआ जान पड़ता है) और गोकुलचन्द की संतान गोहिले हुए, जो दक्षिण में रहते हैं। गोहिलों के सम्बन्ध में हमें कुछ नहीं मालूम, यह नाम हमारे लिए अपरिचित है। गुलहरे, गोलवारे आदि नाम तो दृष्टि में आए हैं। सम्भव है यह उन्हीं का कोई स्थानान्तरित नाम हो, इनका सम्बन्ध इस किंवदन्ती से कितना है अज्ञात है।

अग्रहारी अथवा अग्रहरी नामक वैश्योंकी एक अन्य जाति है। जो युक्त प्रान्त और मध्य प्रान्त में पाई जाती है। इसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि यह अगरोहावासी और अग्रवाल जाति की एक शाखा है। इसकी विकास कथा के सम्बन्ध में घोर मत भेद है। अगहरी मित्र (प्रयाग) के सम्पादक श्री भवानी प्रसाद गुप्त का कहना है कि अग्रसेन के पुत्र हरिकी संतान अग्रहरी वैश्य हैं।

अग्रहारी या अग्रहरी

पर अग्रसेन के अस्तिव के अभाव में इस कल्पना का कोई मूल्य नहीं है। कुछ लोग इसको आचार भेद और कुछ रक्तभेद से विकसित बताते हैं। जाति अन्वेषण नामक पुस्तक में लिखा है कि यह लोग किसी खाने पीने की तुच्छ बात पर लड़ पड़े थे जिससे इन्होंने अपने को अग्रवालों से अलग बना लिया इसकी पुष्टि के लिए अग्रहारी शब्द के अग्र आहारी रूप की कल्पना की गई है जो नितान्त अशुद्ध है। वर्ण विवेक चन्द्रिका में इसका जो वर्णन है उससे इसकी वर्ण संकरता सूचित होता है। उसमें लिखा है कि ये लोग अग्रवाल पिता और ब्राह्मणी माताकी संतान हैं। इस कथन में तथ्य कहाँ तक है यह बताना कठिन है। वर्ण संकरता से जातियों की कल्पना नितान्त अविश्वसनीय है। इनके गोत्र अग्रवालों के गोत्र से मिलते हैं इस कारण नेस्फील्ड और रसलका कहना है कि दोनों जातियाँ पहले एक थीं पर पश्चात किसी कारण से अलग हो गईं। गोत्र की समानता सजाति का सूचक नहीं है। इस कारण यह कहना कठिन है कि वे अग्रवाल जाति की ही शाखा हैं। इनके नाम से ऐसा जान पड़ता है, कि इनका विकास अग्रहार शब्द से सम्बन्ध रखता है। अग्रहार शब्द का अर्थ 'देव प्रदत्त सम्पति' अथवा 'धानका खेत' होता है। इन दोनों अर्थों में से प्रत्येक के साथ इनका सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है किन्तु इस अनुमानकी मीमांसा प्रस्तुत पुस्तक का विषय नहीं है।

महवार नाम जातिको पंजाब के १८८३ ई० की जनगणना रिपोर्ट में अग्रवाल जाति के गोत्र के रूप में उल्लेख करके लिखा है कि

वह अग्रसेनकी शूद्रा पत्नी से जन्मी संतान है। इसी प्रकार केसरवानी, महोई, गहोई, रौनियार, गोलवारा आदि

अन्य जातियाँ

जातियों के सम्बन्ध में भी अनुमान किए जाते हैं कि वे भी अग्रवाल जाति से ही विकसित जातियाँ हैं; पर इन जातियों के सम्बन्ध में कोई ऐसा विवरण प्राप्त नहीं, जिससे इस कथनकी सत्यताकी परख की जा सके।

धर्म भेद

किसी जातिका विभाजन धर्म के आधार पर नहीं किया जा सकता। यों अग्रवाल जाति की एक बहुत बड़ी संख्या जैन धर्मावलम्बी है और सरावगी नाम से पुकारी जाती है। किंवदन्तियाँ के अनुसार इन लोगों को लोहाचार्य स्वामी ने जैन धर्म की दीक्षा दी थी। जैन पुस्तकों में दो लोहाचार्यों का उल्लेख पाया जाता है। एक तो चन्द्रगुप्त मौर्य कालीन भद्रबाहु स्वामी के शिष्य थे और दूसरे सावन्त भद्र स्वामी जो दूसरी ईसा शताब्दी में हुये। सम्भवतः पहले लोहाचार्य ने ही इन लोगों को दीक्षा दी होगी। जैन धर्म का प्रचार देशवाली अग्रवालों की अपेक्षा मारवाड़ियों में अधिक है।

जैन

जैन धर्मावलम्बी लोगों के अतिरिक्त अन्य अग्रवाल प्रायः वैष्णव धर्म के अनुयायी है। थोड़ीसी संख्या शैवों की भी है पर वस्तुतः वैष्णव और शैव अग्रवालों में किसी प्रकारका व्यावहारिक अन्तर नहीं

वैष्णव

है। शैव अग्रवाल भी मांस मदिराका सेवन नहीं करते, अहिंसा धर्मका पालन करते हैं और उनके आचार-विचार भी वैष्णव सरीखे हैं। रामानन्द, तुलसीदास आदि मध्यकालीन सन्तों ने हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के समन्वय करनेकी जिस भावना को उत्तेजन दिया है उसे इस जाति ने पूर्ण रूप से अपनाया है, इस जाति में राम, कृष्ण और शिवकी पूजा समान रूप से होती है।

अग्रवाल जाति में जैन और वैष्णवका भेद भी केवल परिवार परम्परा पर ही आश्रित है। क्रियात्मक सामाजिक जीवन में उस का कोई विशेष प्रभाव नहीं है। उनके बीच खान पान विवाह सम्बन्ध में कोई रुकावट नहीं है। जैन और अजैन अग्रवालों में खुले रूप से विवाह सम्बन्ध होता है। पूर्व में रहने वाले अग्रवाल अपनी कन्यायोंका विवाह जैनियों में करते है किन्तु जैनी बालिका को अपने घर में नहीं लाते। कहीं कहीं इसके विपरीत भी आचार प्रचलित है। उनका विचार है कि बालिकाको एक दूसरे के परिवार में जाकर अपना धार्मिक सिद्धान्त परित्याग करना पड़ेगा, अथवा वह अपने धर्मका समुचित पालन न कर सकेगी, और ऐसा करना अधर्म है। किन्तु मारवाड़ी जैनी अग्रवालों में अधिकांश लोग एक ही अर्थात् गर्ग गोत्र के हैं। अतः उनका विवाह जैन भिन्न अग्रवालों में ही विशेष होता है। इस कारण उक्त भावनाकी रक्षा करना इनके लिए सम्भव नहीं होता।

पंजाब में कुछ अग्रवाल सिक्ख भी हैं, वहाँ कुछ ने अपने को मुसलमान अग्रवाल भी लिखाया है।

४

वार्तिक

(उक्तानुक्तदुरुक्तानां व्यक्तकारि तु वार्तिकम्)

क

प्राचीन जैन-साहित्य के विद्वान प्रोफेसर हीरालाल जी जैन (अमरावती) का एक पत्र मुझे पुस्तक छपते छपते प्राप्त हुआ है। उसमें आपने मेरे पत्र के उत्तर में लिखा है—"अग्रवाल वंश का जैन धर्म से बहुत घनिष्ट और बहुत पुराना सम्बन्ध है। अनेक प्राचीन हस्तलिखित—४००-५०० वर्ष पुराने तक—ग्रंथों की पुष्पिकाओं में मैंने अग्रवाल व अग्रोतकान्वय का उल्लेख देखा है कि उक्त वंश के अमुक पुरुष या स्त्री ने यह ग्रन्थ लिखवाकर अमुक मुनि को दिया इत्यादि। कहीं-कहीं वंश की दो चार पीढ़ियों का सविस्तार वर्णन भी पाया जा सकता है। ऐसी ग्रन्थान्त पुष्पिकाओं का संग्रह (आपके कार्य के लिए) बड़ा उपयोगी हो सकता है।······(तत्काल) मुझे अपने कुछ नोट्स देखने से आपके विषय सम्बन्धी जो उल्लेख मिल गए वे निम्न प्रकार हैं :—

१—पुष्पदन्त कृत आदि पुराण (अपभ्रंश काव्य) की एक प्रति तेरापंथी बड़ा दिगम्बर जैन मन्दिर, जयपुर में है। यह प्रति

संवत् १६५३ ज्येष्ठ शुक्ल तृतीया वृहस्पतिवार को संग्रामपुर में राजाधिराज महाराज श्री मानसिंघ जी के राज्यकाल में पार्श्वनाथ चैत्यालय में, श्री मूलसंघ नन्दि आम्नाय बलात्कार गण, सरस्वती गच्छ, कुन्दकुन्दान्वय के भट्टारक पद्मनन्दि, उनके शिष्य शुभचन्द्र, उनके शिष्य जिनचन्द्र, उनके शिष्य प्रभाचन्द, उनके शिष्य चन्द्रकीर्ति, उनके आम्नायवर्ती अग्रोतकान्वय के भूगिल गोत्र में सा० श्री·········[१] के लिए लिखी गई थी।

२—कवि रइधू के अनेक ग्रन्थ अपभ्रंश भाषा के पाये जाते हैं। इनमें एक सिद्धचक्क माहप्पकहा (सिद्ध चक्र माहात्म्य कथा अपर नाम श्रीपाल कथा) भी है, जिसकी एक प्रति जयपुर में बाबा दुलीचन्द जी के भण्डार में है। इसकी अन्तिम प्रशस्ति में कहा गया है कि रइधू कवि ने उक्त काव्य की रचना गोपाचल (ग्वालियर) में की थी जब वहाँ डुंगरेन्द्र के पुत्र कीर्तिपाल राज्य कर रहे थे। (इनका समय वि० सं० १५२१ वा १४६४ ईस्वी के आस पास पड़ता है। कवि स्वयं पद्मावतीपुरवाल थे, किन्तु उन्होंने जिन साहुजी के लिए ग्रंथ रचा वे हरसिंघ साहु अग्रवाल वंश के थे (सिरि अइरवाल वंसहि महंतु)

३—उक्त रइधू कवि कृत प्राकृत भाषा का 'सिद्धान्त सार' नामक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की जयपुर के बाबा दुलीचन्द के भण्डार वाली प्रति की अन्त प्रशस्ति में कहा गया है कि वह प्रति अग्रोतकान्वय के गर्ग गोत्र के कुटुम्ब की गूजर पुत्री बाई मीसो ने

१—कौटुम्बिक विवरण जैनजी के पास नोट नहीं है।

अपने कर्मों के क्षय के लिए लिखवाई थी। इस प्रति का लेखन-काल माह सुदि ५ सोमवार सं० १८६४ है।

४—उक्त रइधू कृत पार्श्वनाथ पुराण (अपभ्रंश काव्य) की एक प्रति फरुखनगर के जैन भण्डार में है, जिसका लेखनकाल संवत् १५४८ चैत्र बदि ११ शुक्रवार है। यह प्रति भट्टारक हेमचन्द्र देव की आम्नाय वाले 'अग्रोतकान्वय' के गोइल गोत्र के आशीवाल सराफ के कुटुम्ब वालों ने लिखाई थी।

५—यशःकीर्ति कृत अपभ्रंश काव्य हरिवंश पुराण की एक प्रति जयपुर के बाबा दुलीचन्द के भण्डार में है। इस काव्य की रचना का समय विक्रम संवत् १५२० भादों सुदि ११ गुरुवार है। इस काव्य को कराने वाले अग्रवाल वंश गर्ग गोत्र के दिउढा साहु थे। काव्य प्रशस्ति में उनके वंश का सविस्तार वर्णन है।

६—पूर्वोक्त रइधू कृत अपभ्रंश काव्य पार्श्वनाथ पुराण की एक प्रति जयपुर के तेरापंथी जैन मन्दिर में है। प्रशस्ति में कहा गया है कि उक्त ग्रंथ खेऊ साहु ने लिखवाया था जो जोगिनीपुर के सुप्रसिद्ध अग्रवाल कुल के एडिल गोत्र के थे। कुटुम्ब का सविस्तार वर्णन है।"

उपर्युक्त पुष्पिकायें अग्रवाल जाति के इतिहास पर महत्वपूण प्रकाश डालती हैं। हमें उनसे निम्न तथ्य ज्ञात होते हैं।

१—अग्रसेन की कल्पना अभी हाल की है[१], इस धारणा की पुष्टि होती है। अग्रोतकान्वय शब्द इसी बात का द्योतक है कि वे

१—देखिये पृष्ठ १०२।

लोग अग्रोतक (अगरोहा) के मूल निवासियों के वंशज हैं, अग्रसेन के वंशज नहीं।

२—अग्रवाल शब्द उतना नवीन नहीं है जितना कि मेरा अनुमान था।[१] इस शब्द का प्रचार पन्द्रहवीं शताब्दी में हो गया था, जैसा कि उपर्युक्त पुष्पिका २, ५ और ६ से ज्ञात होता है। किन्तु सम्भवतः इस काल तक 'अग्रवाल' जाति नहीं बना था, वह समाज मात्र था और वंश अथवा कुल के नाम से पुकारा जाता था।

३—'अग्रवाल' में 'वाल' प्रत्यय का अर्थ निश्चित रूप से निवासी है[२] क्योंकि रइधू कवि ने पुष्पिका (२) में अपने को पद्मावतीपुरवाल लिखा है।

४—इन पुष्पिकाओं में अग्रवाल जाति के भूगिल, गर्ग, एडिल, और गोइल चार गोत्रों का उल्लेख है। इसमें भूगिल और एडिल गोत्र हमारे लिए सर्वथा नवीन हैं और आज की प्रचलित गोत्र-सूचियों में यह नाम नहीं मिलता और न इसका किसी नाम से सादृश्य ही है।[३] गोत्र-सम्बन्धी अनुसंधान की दृष्टि से यह सूचना बड़े महत्व की है।

(ख)

आगर (मालवा) का प्राचीन लेखों में 'आकर' रूप मिलता है। इसलिए कहा जा सकता है कि आग्रेयों द्वारा आगर के नाम-

१—देखिये पृ० ६८।

२—मिलाइये पृ० १०८–११०।

३—देखिये गोत्र प्रकरण।

करण की कल्पना[1] ठीक नहीं है। किन्तु 'ग' के स्थान पर 'क' का प्रयोग प्राचीन लिपि में प्रचुर रूप से प्राप्य है। यथा—नवनाग का रूप नवनाक भी है।[2]

(ग)

किंवदन्तियों के अनुसार आगरा को अग्रसेन के पिता महीधर ने उसके जन्म के हर्ष में बसाया था।[3] अन्य किंवदन्तियों में अग्रसेन को ही उसका बसाने वाला कहा गया है। डा० सत्यकेतु विद्यालंकार उसे अग्रवाल जाति द्वारा बसाया हुआ उपनिवेश कहते हैं। किन्तु मध्यकालीन जैन काव्यों में उसका नाम 'उग्रसेनपुर' पाया जाता है।[4] इसको देखते हुए अग्रसेन और उग्रसेन का जो समन्वय अन्यत्र किया गया है[5] उचित ही है। इससे यह भी जान पड़ता है कि १६वीं-१७वीं शताब्दी तक अग्रसेन और उनके द्वारा आगरा के बसाये जाने की कल्पना को स्थान नहीं मिला था। प्रसंगतः यह भी कह देना उचित जान पड़ता है कि आगरे का एक प्राचीन नाम अर्गलपुर भी है।[6]

१—देखिये पृ० १२६।

२—जायसवाल—अन्धकार युगीन भारत पृ० २६७, पाद टिप्पणी।

३—देखिये पृ० ६।

४—नाहटाद्वय : ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, पृ० ८१, २४४।

५—पृ०५२-६६।

६—अलवर से प्राप्त अकबर कालीन वि० सं० १६६४ माघ बदि १३ शनिवार के एक शिलालेख में उल्लेख। यह सूचना आदरणीय महामहोपाध्याय डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जी से मिली है।

(घ)

अगाच का रूप अगाज है यह मैंने इस पुस्तक में प्रतिपादित किया है।[१] डाक्टर आल्तेकर ने हाल में ही सूचित किया है प्राकृत के वैय्याकरण हेमचन्द्र ने पैशाची प्राकृत का जो कि पंजाब में प्रचलित थी, एक नियम दिया है जिससे 'ज' के 'च' में परिवर्तित हो जाने की मेरी बात का समर्थन होता है। इसका विस्तृत निर्देश आपने 'जर्नल आफ न्युमिस्मेटिक सोसाइटी आफ इण्डिया भाग ४, खण्ड १' में प्रकाशित होने वाले मेरे लेख में सम्पादकीय टिप्पणी के रूप में किया है।

१—पृ० ११४।